स्वतन्त्र भारत के लिए

गांधीवादी शासन-विधान

लेखक

श्रीमन्नारायण अग्रवाल

आचार्य, सेकसरिया कामर्स कालेज, वर्धा

भूमिका-लेखक

महात्मा गांधी

१९४६

नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

प्रकाशक,
गोकुलदास धूत,
नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

प्रथमबार : १९४९

मूल्य
डेढ़ रुपया

मुद्रक,
अमरचन्द्र,
राजहंस प्रेस, देहली

विषय-सूची

पहला भाग

दूसरा भाग

प्रस्तावना

आचार्य अग्रवाल के इन पन्नों के लिए शायद 'गांधीवादी शासन-विधान' नाम मौजूं नहीं है। सरल और संक्षिप्त नाम के तौर पर वह मानने लायक़ हो सकता है। आचार्य अग्रवाल का मेरे लेखों का अध्ययन ही इस पुस्तिका के ढांचे का आधार है। कई वर्षों से वह उनकी व्याख्या करते रहे हैं। और क्योंकि उन्हें इस बात का बड़ा ख़याल रहता है कि उस व्याख्या में किसी तरह का कोई उलटा-पलटा या ग़लती न हो जाय, मेरे देखे बिना वह कोई चीज़ नहीं छपवाते। इसमें नफ़ा और नुक़सान दोनों ही हैं। नफ़ा तो साफ़ ही है। नुक़सान यह है कि किसी ख़ास लेख के बारे में पाठक कहीं यह ग़लत ख़याल न बना बैठे कि उसकी हरएक तफ़सील मेरे ख़याल के मुताबिक़ है। इसलिए मैं आगाह कर देना चाहता हूं कि वह ऐसी ग़लती न करें। इन पन्नों में जो कुछ भी निकल रहा है अगर उसके हरेक शब्द या लफ्ज से अपना इत्तिफ़ाक़ जाहिर करना होता, तो मैं उस चीज़ को ख़ुद ही लिखता। हालांकि अपने दूसरे कामों के साथ-साथ में जितना ध्यान इस तरफ़ दे सकता था, देकर, मैंने दो बार इस विधान को पढ़ने की कोशिश की है, फिर भी इसके हरेक ख़याल और लफ्ज़ को जांचने का काम मैं नहीं कर सका हूं। और न औचित्य और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की मेरी भावना ही इस तरह की ज़्यादती की मुझे इजाज़त देती। इसलिए मैं जो कुछ कह सकता हूं इतना ही कि सही-सही ख़यालात जाहिर करने के लिए लेखक जितनी सावधानी रख सकता था, उतनी उसने रक्खी है; इस बात के पुस्तिका में काफ़ी प्रमाण हैं। मैं जिस बात को पसन्द करता होऊँगा उसके ख़िलाफ़ इसमें मुझे कोई बात नहीं मालूम हुई।

मेरे विचार से जो परिवर्तन या तब्दीलियां इसमें ज़रूरी थीं, लेखक ने खुशी से वे मंजूर कर लीं।

'विधान' शब्द से पाठक को यह ग़लत खयाल न बना लेना चाहिए कि लेखक ने इसमें सम्पूर्ण या मुकम्मिल विधान रखने का इज़्हार किया हो। शुरू के पन्नों में उन्होंने यह बिलकुल साफ़ कर दिया है कि उन्होंने मेरे ख़याल के मुताबिक़ कैसा विधान होना चाहिए यह बताने वाली एक व्यापक रूप-रेखा ही इसमें दी है। हिन्दुस्तान के सामने विधान पेश करने के जो अनेक प्रयत्न हो रहे हैं, उसमें आचार्य अग्रवाल के प्रयत्न को मैं एक विचार-पूर्ण योग समझता हूं। उनके इस प्रयत्न की विशेषता इस तथ्य में है कि वक़्त की कमी की वजह से जो मैं नहीं कर सका वह उन्होंने किया है।

कलकत्ता जाते हुए
रेल पर
३० नवम्बर, १६४५

पहला भाग

: १ :

प्रास्ताविक

निःसन्देह संयुक्त राष्ट्रों ने विश्वव्यापी युद्ध में विजय तो हासिल कर ली। जापान और जर्मनी को बिला शर्त आत्म-समर्पण के लिए मजबूर करके उन्हें अपने कदमों में भी झुका लिया। पर अभी यह सिद्ध कर के दिखा देना बाकी है कि संयुक्त राष्ट्रों ने विश्वशान्ति भी हासिल कर ली है। क्योंकि युद्ध-समाप्ति के पहले-पहले ही अटलांटिक चार्टर निर्लज्जता के साथ दफ़ना दिया गया था! एक नये नाम से दूसरा "राष्ट्र-संघ" फिर खड़ा कर दिया गया और इन सब के ऊपर है पौटस्डम-घोषणा, जिसके सामने वर्साय की सन्धि भी फीकी पड़ जाती है। ये सब कुसगुन कोई आशा नहीं दिला सकते। जैसा कि वेन्डेल विल्की ने कहा है, "अगर लड़ाई के दर्मियान हम कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं कर सकते तो युद्ध के बाद तो यह असम्भव है।"[1] पर्लबक कहती है, "संयुक्त राष्ट्रों की ईमानदारी की सबसे कड़ी कसौटी तो हिन्दुस्तान है। यह जनतन्त्रवादी ब्रिटेन अपने साम्राज्य के लिए लड़ रहा है[2]।" मानव जाति के इतिहास में इससे अधिक पेचीदा बात और क्या होगी। पर ब्रिटेन इसी दो-मुंही नीति पर बराबर अमल करता आ रहा है। उससे यह आशा करना व्यर्थ है कि वह भलमन-साहत के साथ "हिन्दुस्तान छोड़" कर चला जायगा। खैर, जो हो। मुझे तो इसमें जरा भी शक नहीं कि ब्रिटेन भले ही हिन्दुस्तान को न छोड़ना चाहे, पर हिन्दुस्तान खुद बहुत जल्दी अपनी राजनैतिक आजादी हासिल कर लेगा। एच० जी० वेल्स अपनी किताब "शेप

१ वन वर्ल्ड पृष्ठ ११८। २ एशिया एण्ड डेमोक्रसी पृष्ठ १६

ऑफ थिंग्स टु कम" में स्पष्ट दर्शन कर रहे हैं कि एक बार ब्रिटेन अपनी मजबूती दिखाने के लिए हाथ पैर पटकेगा और उसके बाद उसकी भारत पर की पकड़ एकदम ढीली पड़ जायगी,—छूट जायगी।" मुझे तो यह पूर्ण विश्वास है कि यह छटपटाहट जो पिछले तीन वर्षों में साफ-साफ प्रकट हो गई है, अब खतम होने को ही है। आज के इस अंधकार और निराशा का अन्त होगा और हम बहुत जल्दी सुनहली प्रभात का उदय देखेंगे। हिन्दुस्तान जैसे महान प्राचीन एशियाई देश की स्वाधीनता के बगैर जगत में शान्ति की स्थापना असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और प्रेमभाव के मार्ग में हिन्दुस्तान की गुलामी हमेशा एक जबरदस्त और बढ़ता हुआ खतरा ही रहेगा। इसलिए संसार के हित की दृष्टि से भी हिन्दुस्तान के स्वतन्त्रता के प्रयत्नों को रोकना अच्छा नहीं है'[1]।

सवाल उठता है, आजाद हिन्दुस्तान का शासन-विधान कैसा होगा? क्या हम, स्विट्जरलैंड, अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र या रूस जैसे किसी पश्चिमी राष्ट्र के विधानों की नकल करेंगे? या हम भारतवर्ष की विशेषता, संस्कृति और परम्परा के आधार पर किसी स्वदेशी-शासन-विधान का विकास करेंगे? मुझे लगता है, यह सवाल बड़ा महत्त्वपूर्ण है और इसके लिए राजनैतिक सत्ता सचमुच प्रत्यक्ष रूप से हमारे हाथों में आवे तब तक ठहरना ठीक नहीं होगा। बल्कि, इसका जवाब हमें आज और अभी दे देना चाहिए।

हिन्दुस्तान सचमुच एक बहुत पुराना देश है। अगर उसके पुराने शासनिक विकास का अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि ईसा के हजारों वर्ष पहले वह लगभग सभी प्रकार के राजनैतिक संगठनों का अनुभव ले चुका है। ऐसे समय—जब कि यूरोप और नई दुनिया ने सभ्यता का प्रकाश तक नहीं देखा था हिन्दुस्तान ने राजसत्ता, एकतन्त्र सरदार तन्त्र, प्रातिनिधिक शासन, संपूर्ण जनतन्त्र, और अराजकता

१ ए वीक विथ गांधी—लुई फिशर, पृष्ठ ५१

आदि सब प्रकार के शासनों का अनुभव ले लिया था। 'हिन्दू पोलिटी' में श्री काशीप्रसाद जायसवाल लिखते हैं कि भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, राष्ट्रिक, द्वैराज्य, और अराजक प्रकार के शासन हिन्दुस्तान में थे। इनमें से कुछ प्रकार तो शायद अब तक किसी देश ने नहीं आजमाये हैं। इसलिए हम मान सकते है कि हिन्दुस्तान शासन-विकास की एक बहुत पुरानी विज्ञानशाला—लेबोरेटरी है। उसके लिए पश्चिम के शासन-विधानों का जो कि अभी सांचे में ढल ही रहे हैं, एक मिश्रण तैयार करना न केवल उसका अपमान होगा, बल्कि इससे हम अपने समाज-विज्ञान-सम्बन्धी सम्पूर्ण अज्ञान को ही प्रकट करेंगे। क्योंकि शासन विधान एक पौधे के समान विकासशील वस्तु है। किसी देश पर उसकी अपनी प्रतिभा और विशेषता के प्रतिकूल एकदम परकीय शासन-विधान को लादना एकदम अवैज्ञानिक बात होगी। शासन की पद्धतियां पौधों की भांति एक जगह से उखाड़ कर दूसरी जगह नहीं लगाई जा सकतीं—इस तरह उन्हें लगाना भी नहीं चाहिए। सर जान मारियट के शब्दों में कहें तो "वे व्यापार की वस्तु भी नहीं हैं जिनका दूसरी जगह निकास किया जा सकता हो।"[1] हर देश की अपनी स्वतन्त्र अनन्य साधारण संस्कृति और सभ्यता होती है। वही उसकी आत्मा है। राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक हिस्से में उसकी इस आत्मा की रक्षा और विकास-साधन होना चाहिए। सम्पूर्ण और स्वाभाविक विविधता ही जीवन और बुद्धिहीन नकली समानता मृत्यु है!

मुझे समझने में कहीं भूल न हो। मेरा मतलब यह हरगिज नहीं कि दूसरे राष्ट्रों के अनुभवों से हम लाभ नहीं उठावें और यहां एक किस्म की संकीर्ण राष्ट्रीयता का विकास करने में लग जायं। नहीं, ऐसी बात नहीं। मैं चाहता हूं कि कम-से-कम अब तो हम अपने आपको हीन समझना छोड़ दें और बात-बात में पश्चिम की तरफ देखने के बजाय अपने अन्दर देखने की आदत डालें। पश्चिम की नकल करते हुए बहुत

१ डिक्टेटरशिप एण्ड डेमोक्रेसी—पृष्ठ ६

अर्सा हो गया। अब सही भावना में हम अपनी भारतीय संस्कृति और संस्थाओं पर गर्व करना सीखें।

मैं एक कदम और आगे जाऊंगा। बड़ी सावधानी के साथ भारतवर्ष ने विकेन्द्रित जनतन्त्री पद्धति का विकास किया था और ग्रामीण जनतन्त्र के रूप में सदियों तक उसकी रक्षा की। यह किसी जातीय साम्यवाद का स्मारक या अवशेष नहीं, बल्कि परिपक्व चिन्तन और पूरी सावधानी के साथ किये गये प्रयोगों का फल था। अपनी असंख्य ग्राम-संस्थाओं के रूप में हमारे देश ने जिस स्वायत्त-शासन का विकास किया था, उसने सदियों तक असंख्य राजनैतिक तूफानों का मुकाबला किया। आज भी एक आदर्श जनतन्त्री शासन के रूप में संगठित हो जाने की क्षमता उसके अन्दर विद्यमान है। मेरा मतलब यह नहीं कि स्थानीय शासन की पुरानी पद्धति को हम पुनः ज्यों-की-त्यों शुरू कर दें। हमारे नागरिक जीवन की मौजूदा हालत के अनुकूल बनाने के लिए हमें उसमें अवश्य ही कई परिवर्तन करने होंगे।

बीसवीं सदी में हिन्दुस्तान में शासन-विधान बनाने के जो प्रयत्न हुए हैं उनपर हम ज़रा एक सरसरी नज़र डालें। सन् १९०९, १९१९ और १९३५ में ब्रिटिश सरकार ने जो वैधानिक सुधार जारी किये उनका जिक्र मैं नहीं करूंगा। अंग्रेज विधान-शास्त्रियों का यह निश्चित मत है कि विधानों को बाहर से नहीं लाया जा सकता। इसके बावजूद ये विधान इङ्गलैंड से भारत में भेजे गये। इस देश में जो नवचेतना जागी थी उसके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। महात्मा गान्धी पहले नेता हैं, जिन्होंने अपनी स्वदेशी, संस्कृति और सभ्यता के विकास की तरफ ध्यान दिया। सन् १९०८ में उन्होंने 'हिन्द-स्वराज्य' लिखा था। भारत का भावी-शासन विधान कैसे हो इसके आधार-भूत आदर्शों और सिद्धान्तों का वर्णन इस पुस्तक में है। इसके बाद हम सन् १९१६ की कांग्रेस-लीग योजना को लें। किसी खास वैधानिक सिद्धान्त पर नहीं, बल्कि ब्रिटिश पार्लमेण्टरी पद्धति पर उसकी रचना की गई थी। इस संयुक्त योजना में

सच्चे दिल से एक ऐसी वस्तु बनाने का यत्न किया गया था जो हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए भी स्वीकार्य हो। देशबन्धु चित्तरंजन दास और डॉ० भगवान्दास ने सन् १६२२ की गया कांग्रेस के बाद 'स्वराज्य की एक रूपरेखा' बनाई थी। परन्तु देश के अनेक प्रमुख नेताओं की सलाह से सन् १६२४-२५ में 'दि कामनवेल्थ ऑफ इण्डिया बिल' देश के सामने रखकर श्रीमती बेसेन्ट ने एक बड़ा भारी और सच्चा बुनियादी काम किया। उनकी कल्पना तो यही थी कि भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहकर ही स्वराज्य का उपभोग करे। परन्तु उन्होंने हमारी पुरानी ग्राम-पंचायत प्रथा के आदर्श को ही ऊंचा उठाकर उसे भारत के भावी-शासन विधान का आधार बनाया था। सन् १६२८ में सर्वदल सम्मेलन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जो नेहरू-कमिटी रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १६३६ में महात्मा गान्धी के मार्ग-दर्शन में औंध के लिए जो शासन-विधान बनाया गया वह शासन-विधान के विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सम्पूर्णतया जनतन्त्रात्मक पद्धति पर राज्य में उसने पंचायती राज की स्थापना कर दी। विधान-निर्माण का सबसे अन्तिम प्रयत्न उस समझौता समिति की रिपोर्ट है, जिसके सभापति सर तेज बहादुर सप्रू थे।

परन्तु विधान का निर्माण तो भारतीय परम्परा को ध्यान में रखकर ही होना चाहिए। दुःख की बात है कि हमारे बहुत से नेताओं ने भारत की पुरानी संस्थाओं का अध्ययन करने का कष्ट नहीं किया है। राष्ट्र-निर्माण के इस अंग पर अकेले गान्धीजी ही जोर देते रहे हैं। इसलिए मैंने उनसे चर्चा की कि हिन्दुस्तान के लिए उसके अपने स्वदेशी ढंग का स्वराज्य-विधान बनाया जाय तो कैसा रहे। उन्होंने बताया कि ऐसे विधान की जरूरत तो पूरी है। और इसमें मेरा मार्ग-दर्शन करना भी उन्होंने मंजूर किया। मैंने इस विधान का नाम 'गांधीवादी शासन-विधान' तय किया क्योंकि दूसरे किसी की भी अपेक्षा गांधीजी ही भारतीय संस्कृति और परम्परा के प्रतीक और पुरस्कर्त्ता हैं। इसके अलावा,

इसकी प्रायः हर तफसील पर मैंने उनसे चर्चा की है, और उनके विचारों को सही तौर पर पेश करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है।

फिर भी मेरा दावा यह नहीं कि इस पुस्तिका में शासन-विधान का ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण ढांचा पेश किया गया है, जिसे देश में केवल जारी करने भर की देर हो। नहीं, इसमें तो केवल उन बुनियादी सिद्धान्तों और उद्देश्यों को पेश किया गया है जिनको स्वतन्त्र भारत के भावी-शासन-विधान में स्वीकृत किया जाना चाहिए। मैं ज़ोर के साथ कह दूं कि 'विकेन्द्रित जनतन्त्र' के ये आदर्श केवल हवाई सपने नहीं हैं। वे पूर्णतया व्यावहारिक हैं और उनपर अमल हो सकता है। आम चुनावों के बाद विधान निर्मातृ सभा के सामने स्वतन्त्र भारत के लिए एक माकूल और योग्य विधान बनाने में मुश्किल सवाल खड़ा होगा। अगर इस मौके पर यह निबन्ध हमारे नेताओं और जनता का ध्यान अपने देश की परम्परा के अनुकूल स्वदेशी विधान का निर्माण करने की जरूरत की तरफ आकर्षित कर सका तो मैं मान लूंगा कि मेरा यह परिश्रम पूर्णतया सफल हो गया।

: २ :

बुनियादी सिद्धान्त

मेरा यह इरादा हरगिज नहीं कि आदर्श राजनैतिक संगठन के मूलभूत सिद्धान्तों पर मैं कोई विस्तृत निबन्ध लिखूं। फिर भी एक चिरस्थायी राजनैतिक संगठन के लिए आवश्यक कुछ सिद्धान्तों की चर्चा यहां कर लेना जरूरी है। इन बुनियादी कल्पनाओं को जबतक साफतौर पर नहीं समझ लिया जायगा किसी भी विधान का निर्माण निरर्थक होगा।

सबसे पहले हम साफ तौर पर यह समझ लें कि कोई एक विधान तमाम देशों के लिए और सदा सर्वकाल के लिए सर्वोत्तम नहीं हो सकता। प्रत्येक देश की पूर्व परम्परा और वर्तमान परिस्थिति को ध्यान

में रखकर ही शासन के रूपों का निर्माण होना चाहिए। वह विधान सर्वोत्तम है जो अमुक समय में, अमुक देश में उन तमाम उद्देश्यों को पूर्णतया सफल करता हो जिसके लिए समस्त सरकारें बनाई जाती हैं।[1] इस दृष्टिकोण पर जोर देने वाला सबसे पहला विचारक शायद अरस्तू था। राज्य का अस्तित्व ही इसलिए है कि जो मनुष्य को—जितनी उसमें क्षमता हो—अच्छे से अच्छा जीवन बनाने का मौका दे। साथ ही मनुष्य तभी अपना जीवन सबसे अच्छा बना सकते हैं जबकि प्राप्त परिस्थिति में उन्हें अच्छे-से-अच्छे प्रकार का शासन उपलब्ध हो।[2] इसलिए हम किसी राज्य की खासियत या विशेषता को देखकर उसे अच्छा या बुरा नहीं कहें, बल्कि इसका अन्दाजा हम उसके नागरिकों के प्रत्यक्ष जीवन की अच्छाई-बुराई के मान को देखकर लगावें।[3] इसलिए जुदा-जुदा राज्यों के शासन का लक्ष्य तो मूलतः एक ही होगा परन्तु स्थानीय परिस्थिति के अनुसार उनके रूप निश्चय ही भिन्न-भिन्न होंगे।

राज्य का लक्ष्य

पर राज्य का लक्ष्य क्या हो? सचमुच यह एक ऐसा सवाल है जिसके आस-पास पुराने जमाने से लेकर आजतक राजनैतिक विचारधारायें लगातार चक्कर काटती रही हैं। यूनान के निवासियों के लिए तो राज्य ही जीवन का सबसे श्रेष्ठ तथ्य था और जिस प्रकार तमाम नदियां बह कर समुद्र की तरफ जाती हैं, मनुष्य की सारी क्रियायें और कोशिशें उसीकी तरफ और उसीमें प्रवाहित होती थीं।[4] अथेन्स के निवासियों के लिए सबसे बड़ी गौरव की वस्तु उनका नागरिकत्व था। नागरिकत्व के सिद्धान्तों के अन्दर उनके लिए नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति भी समाविष्ट थी।[5] शहर के मानी थे सामाजिक—

१ डिक्टेटरशिप एण्ड डेमोक्रेसी पृ० २१७ २ अरिस्टोटल्स 'पोलिटिक्स'
३ फिलॉसफी आफ अवर टाइम्स—प्रो० जोड पृ० ३३१
४ 'प्रिंसिपल ऑफ पोलिटिकल साइंस'—गिलक्राइस्ट पृ० ४६०
५ 'ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थियरी'—प्रो० सेबाइन पृ० १३

'सम्मिलित जीवन'। फलतः यूनान के तमाम राजनैतिक सिद्धान्तों की जड़ में इस "सम्मिलित जीवन की शान्ति और सुख" को हम पाते हैं। अफलातूं के लिए राज्य एक विश्व था, जिसमें व्यक्ति अपना स्थान ढूंढ कर अपने योग्य कर्तव्यों को अदा कर सकता था। अरस्तू नैतिकता को मानता था। राज्य का आधारभूत मुख्य सिद्धान्त समान अधिकारवादी व्यक्तियों की इस संस्था का लक्ष्य "अच्छे-से-अच्छे जीवन" की सिद्धि था। रूमियों ने राज्य का लक्ष्य क्या हो इस पर बहुत ध्यान नहीं दिया। उनकी शक्तियां ज्यादातर साम्राज्य के विस्तार में ही लगीं। मध्ययुगीन ईसाई पादरी वर्ग के लेखक साधारणतया राज्य को ईसाई धर्म (क्रिश्चियानिटी) की रक्षा के लिए ईश्वर का एक औजार मानते थे। हॉब्स कहता कि राज्य का काम मुल्क में व्यवस्था कायम रखना है जिससे रिआया की सम्पत्ति की रक्षा हो। लॉक की नजरों में शासन का उद्देश्य जान, माल और आजादी की रक्षा था। रूसो राज्य को आम जनता की इच्छा की पूर्ति के लिए मजूर किया गया एक सामाजिक इकरारनामा मानता था। हेगेल ने यूनान के इस सिद्धान्त को पुनः जीवित कर दिया कि राज्य ही सबसे बड़ा तथ्य है। उसने लिखा है कि "राज्य का अस्तित्व संसार में प्रत्यक्ष ईश्वर की सत्ता का प्रमाण है। पृथ्वी पर वही सब से बड़ी सत्ता है। साध्य, साधन सब कुछ वही है" बेन्थम ने यह प्रतिपादन किया है कि अधिक से अधिक जनता का सर्वाधिक हित-साधन के लिए राज्य का अस्वित्व होना चाहिए। हर्बर्ट स्पेन्सर ने राज्य को पारस्परिक विश्वास के लिए खड़ी की गई एक कम्पनी कहा है, जिसका काम था सबकी सम्पत्ति की सम्मिलित रूप से रक्षा करना। जान स्टुअर्ट मिल ने बड़े जोरों के साथ प्रतिपादन किया है कि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना राज्य का पवित्र कर्त्तव्य है। मार्क्स की अपेक्षा यह रही है कि वर्गहीन समाज की स्थापना करने के बाद राज्य संस्था अपने आप खतम हो जायगी। हमारे, अपने जमाने में प्रो० लास्की राज्य को सामाजिक जीवन की

समृद्धि के लिए निर्मित बन्धुभाव से खड़ा किया गया संघ मानते हैं[1]। बर्नार्ड शा मानते हैं कि 'राज्य का लक्ष्य किसी एक वर्ग का नहीं बल्कि समस्त जनता का अधिक-से-अधिक हित-साधन हो।' वेल्स चाहते हैं कि सारा संसार एक राज्य हो। मनुष्य के अधिकारों की नये सिरे से परिभाषा की जाय और उसके आधार पर नये कानून बनाये जायं जो मनुष्य-मात्र के लिए लागू हों और उनके जरिये प्रत्येक मनुष्य की स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य और सुख की रक्षा हो।[2]

भारत का राजनैतिक चिन्तन प्रधानतया उसके पुराने दो महाकाव्यों रामायण और महाभारत में, मनुस्मृति में, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में और शुक्राचार्य के नीतिसार में हमें मिलता है। रामायण में राम के आदर्श-राज्य का वर्णन है, जिसमें बताया गया है कि लोग सुखी, शान्ति-शील और समृद्ध थे। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्माचार्य राज्य के कर्तव्यों को गिनाते हुए कहते हैं कि राज्य का मुखिया नागरिकों का संरक्षक हो जिससे वे अपने-अपने धर्म अर्थात् कर्तव्यों का पालन करते हुए शान्ति और सुख पूर्वक धर्ममय जीवन बिता सकें। कौटिल्य भी राज्य के आधार-भूत तत्त्वों का वर्णन करते हुए बताते हैं कि राज्य या राजा का सबसे पहला कर्तव्य प्रजा का हित साधन कर उसे सुखी रखना है। उनके सुख में वह अपना सुख माने और उनके भले में अपना भला।[3] शुक्रनीति में राजा सब से पहले अपने प्रजाजनों का रक्षक और कल्याणकर्ता माना गया है। नागरिकों को वह इस प्रकार अपने अनुशासन में रक्खे कि जिससे सब अपने-अपने धर्म और वर्णाश्रम के कर्तव्यों का पालन करें और दूसरे के क्षेत्रों में कदम न रक्खें।

१ ग्रामर आफ पोलिटिक्स पृ० ३७
२ न्यू वर्ल्ड ऑर्डर पृ० १२२
३ अर्थशास्त्र पृ० ३८

राज्य-निष्ठा और व्यक्तिनिष्ठा

राज्य के उद्देश और कर्तव्यों के बारे में भारतीय और यूरोप के विचारकों ने जो कुछ कहा है उस सबका अगर हम ध्यान से अध्ययन करेंगे तो हमें दो बिलकुल स्पष्ट-विचार धारायें दिखाई देंगी। एक प्रकार के विचारक राज्य-संस्था को अधिक महत्त्व देते हैं। राज्य की सत्ता के आगे व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्रता उनकी नजरों में गौण है। व्यक्ति को दबाकर वे राज्य का गौरव बढ़ाकर उसे देवतुल्य बना देते हैं। उनकी नजरों में राज्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है व्यक्तियों को अपने अनुशासन में रखना। यहांतक कि मनुष्य शक्तिशाली राजनैतिक संगठन का एक पुर्जामात्र बन जाता है। यह विचार-धारा हमें अधिनायक या एक-तन्त्र की तरफ ले जाती है। दूसरे प्रकार के विचारकों की नजरों में प्रधान वस्तु व्यक्ति अर्थात् मनुष्य है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और विकास सबसे अधिक महत्त्व रखते हैं। वे मानते हैं कि राज्य का कर्तव्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है। मनुष्य उनकी नजरों में साधन या औजार नहीं बल्कि साध्य और आराध्य है। काउण्ट कोडेनहोवेकालेरजी ने अपनी पुस्तक 'टोटेलिटेरियन स्टेट अगेन्स्ट मैन' (अर्थात् मानव विरोधी अधिनायक तन्त्र) में इन दो प्रकार की राजनैतिक विचार धाराओं को क्रमशः स्पार्टन और अथोनियन कहा है। स्पार्टन आदर्श अधिनायक तन्त्र पुरस्कर्ता है और अथोनियन आदर्श मनुष्य को सर्वेसर्वा मानता है। स्पार्टा में मनुष्य का समस्त जीवन राज्य के लिए था। अथेन्स में राज्य का अस्तित्व ही मानव की सेवा के लिए माना गया था। इन दो विचार-धाराओं को समाज-निष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ आदर्शों के नाम से भी पुकारा जाता है। पर जैसा कि हमेशा हम देखते हैं सत्य इन दोनों के सुन्दर सामंजस्य में है।

राज्य का काम और उद्देश तो व्यक्ति और राज्य के हितों का शान्तिपूर्ण समन्वय होना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहें तो स्वतन्त्रता और अनुशासन को भी हम समान महत्त्व दें। हमारा वजन इन

दोनों के मध्य में हो। राज्य का कर्तव्य है कि व्यक्ति और समाज के हितों के बीच सामंजस्य के लिए अनुकूलतायें निर्माण करे, उसे बढ़ावा दे और मजबूत करे। व्यक्ति राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करे और राज्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करे और उसे अपने व्यक्तित्व का पूर्णतया विकास करने में सहायता करे। प्रो० टॉनी इसी कल्पना को "फंक्शनल सोसायटी" (कर्तव्यशील समाज) इन शब्दों में प्रकट करते हैं। अर्थात् समाज की सेवा के कार्यों से अधिकार अपने आप प्राप्त हो ही जाते हैं।[1] दूसरे शब्दों में व्यक्तियों के अधिकार और स्वतन्त्रता सापेक्ष, आनुषंगिक हों। इनकी कुछ शर्तें हों। वे अनिर्बन्ध और एकदम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र न हों।

श्री ए० जी० गार्डिनर लिखते हैं, "व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अर्थ तो होगा सामाजिक अराजकता। सबकी स्वाधीनता की रक्षा के लिए प्रत्येक को अपनी स्वतन्त्रता पर कुछ निर्बन्ध लगाने होंगे। हां, जो बातें पूर्णतया व्यक्तिगत हैं और जो किसी दूसरे आदमी की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं पहुंचाती, उनके बारे में हम जो चाहें कर सकते हैं"। मान लीजिए मैं किसी नदी या झरने के किनारे एक लम्बा कोट पहनकर या बालों को लम्बा छोड़कर और नंगे पैर घूमना चाहता हूं तो मुझे कौन मना करेगा? आप चाहें तो मेरी हंसी कर सकते हैं। पर मैं इसकी परवा नहीं करूंगा। यह स्वतन्त्रता मुझे है। इसी तरह अगर मैं अपने बालों में खिजाब लगाना चाहूं, या मोम लगाकर अपनी मूछों को खड़ी रखने की मुझे इच्छा हो—(हालांकि बात तो जरा बेहूदा ही है) या मैं ऊंची दीवाल-वाली टोपी पहनना चाहूं, बदन में गरम कोट और पैरों में सैंडल पहनूं अथवा रात देर से सोकर सबेरे जल्दी उठना चाहूं तो यह सब मैं अपनी इच्छानुसार कर सकता हूं। इसमें किसी आदमी से पूछने जाने की जरूरत नहीं।[2] पर जिस क्षण हम इस मर्यादा से बाहर कदम रखते हैं हमारा कार्य स्वातन्त्र्य दूसरों की स्वतन्त्रता से मर्यादित हो जाता है। दुनिया में

१ **'एक्विजिटिव सोसाइटी'–प्रो० टॉनी** २ **एसे 'ऑन दि रूल ऑफ दी रोड'**

बहुत से लोग हैं। उनकी और हमारी स्वतन्त्रता के बीच में सामंजस्य स्थापित करना होगा।

पूर्ण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त अब खतम हो चुका है। अब वह फिर उतना जोर नहीं पकड़ सकता। किन्तु राज्य की वेदी पर मनुष्य के व्यक्तित्व की बलि देने की प्रवृत्ति अत्यन्त निन्दनीय है। काण्ट ने ठीक ही कहा है कि हर आदमी इस तरह बर्ताव करे कि उससे मनुष्यता का—चाहे वह हमारे अपने अन्दर हो या दूसरे के अन्दर हो—हित साधन हो। मनुष्यता साधन नहीं साध्य हो। उदाहरणार्थ राज्य के सैनिक संगठन के लिए व्यक्ति को दबाना या उसके साथ अन्याय करना मनुष्यता के प्रति पाप है। इस तरह समाज को एक सैनिक संगठन में जकड़ देने का अन्तिम परिणाम अधिनायक तन्त्र में होता है। इसमें शासक और शासित दोनों का पतन है। सर्वसत्ताधीश राज्य तो इस तरह व्यक्तियों को निरे शून्यवत बना देता है। फिर ऐसे सर्वसत्ताधीश तन्त्रों में—चाहे वे फासिस्ट हों या समाजवादी अन्तिम सत्ता एक ही या इने-गिने कुछ आर्त मानवों के हाथों में पहुंच जाती है, जो लाखों करोड़ों आदमियों की किस्मत के विधाता बन जाते हैं। परन्तु अगर मनुष्य की मनुष्यता की रक्षा करनी है तो इन आर्त मानवों से—चाहे वे कितने ही उदात्त और उच्चाशय हों—उसे बचाना ही होगा। जिस शासन में मनुष्यों की इस तरह मूर्ति पूजा होती है उसमें सभ्यता की कोई आशा नहीं हो सकती।[1] हिटलर और मुसोलिनी का चमत्कार भरा उत्थान और उतना ही आश्चर्यजनक पतन इस उन्मत्त अधिनायकत्व की व्यर्थता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। हिटलर चाहे जिन्दा हो या मर गया हो आज तो वह केवल कथा-कहानियों का विषय बन गया है।

रूस का जनतन्त्र

रूस ने एक नये प्रकार के जनतन्त्र का विकास किया है जिसे मजूर और किसानों का राज कहते हैं। मार्क्सवादी शासन का उद्देश्य

१ एवरी बडीज पोलिटिकल व्हॉट इज व्हॉट-जार्ज बर्नार्ड शॉ पृ० ३४१

वर्गहीन जनतन्त्री समाज का निर्माण है। पर ऐसे समाज की रचना जनता को निर्दयता के साथ इस आशा से सैनिक संगठन में जकड़कर की जा रही है कि आगे चलकर यह शासन गायब हो जायगा। पर जैसा कि प्रो० ऐल्डस हक्सले ने कहा है इस अत्यन्त केन्द्रित सत्ताधारी शासन का नाश या तो महायुद्ध से हो सकता है, या नीचे से उठी क्रान्ति से। वह अपने आप गायब हो सकता है यह मानने के लिए तो तनिक भी कारण नहीं है।[1] जॉन गुन्थर को भय है कि यह मजूर और किसानों का अधिराज तो नहीं होगा पर उनपर अधिराज हो जायगा।[2] प्रो० जोड़ अपनी किताब गाइड टु दि फिलासफी ऑफ मारस एण्ड पोलिटिक्स में लिखते हैः—

"इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अधिनायकत्व जैसे-जैसे वह पुराना होता जाता है-प्रकृत्या ढीला नहीं- अधिकाधिक कठोर होता जाता है। टीका और आलोचनायें सहने की शक्ति उसकी घटती जाती है और वह अधिकाधिक अधीर—उतावला होता जाता है। संसार में आज जो घटनायें घट रही हैं वे इस विचार का समर्थन करती हैं। फिर भी कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों में इतिहास की इन शिक्षाओं के ठीक विपरीत यह बताया जा रहा है कि किसी खास क्षण पर अधिनायक शासन अपने यन्त्रों की गति को पलट देंगे, वे सत्ता को छोड़ देंगे और अबतक जो स्वतन्त्रता देने से इनकार किया जाता रहा है वह दे दी जायगी। पर न तो इतिहास और नमानस शास्त्र इस परिणति की सम्भवनीयता को स्वीकार कर सकते हैं।"

प्रो० गिन्स बर्ग अपनी पुस्तक 'समाज का मानस' (सायकॉलॉजी ऑफ सोसायटी) में बताते हैं कि किस प्रकार सत्ता को केन्द्रित करनेवाला हर प्रकार का शासन एक-तन्त्री बनता जाता है। आचार्य विनोबा भावे भी यही मानते हैं। क्योंकि सत्ता का केन्द्रीकरण चाहे पूंजीवादी हो या समाजवादी,

१ एण्ड्स ऐण्ड मींस पृ० ६३ २ इनसाइड यूरोप पृ० ५७१

उसमें हिंसा, दमन और सैनिकवाद तो होता ही है।[१]

जनतन्त्र के पक्ष में

इसलिए संसार के सामने केवल एक ही रास्ता है—जनतन्त्र। मनुष्य के व्यक्तित्व को सुव्यवस्थित रूप से विकास करने का अवसर उसीमें मिलता है या यों कहें कि मिलना चाहिए। जहां उसके अन्दर मनुष्य को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता दी जाती है तहां साथ-साथ वह व्यक्तियों को यह भी याद दिलाता रहता है कि राज्य में न्यायोचित अधिकारों के साथ-साथ राज्य या समाज के प्रति भी उनके कुछ कर्तव्य हैं। लिंकन ने जनता द्वारा, उसके अपने हित में अपने (जनता के) शासन को जनतन्त्र कहा है। यद्यपि अतिपरिचय के कारण यह कथन एक मामूली मुहावरा बन गया है फिर भी हम मानते हैं वह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि श्रीमती एलेन होवर रूजवेल्ट ने कहा है—जनतन्त्र में नीति और धर्म दोनों हैं। उसमें बन्धु-भाव और एक दूसरे के प्रति गहरा आदर भाव है। यहां तक कि हमारी अपनी भी सफलता सच्ची और वास्तविक वही होगी जब वह दूसरों की सफलता में सहायक होगी।[२]

प्लेटो जनतन्त्री शासन को पसन्द नहीं करता था, क्योंकि उसमें शासन सुस्त चरित्रहीन लोगों के वर्ग के अधीन चले जाने की सम्भावना थी।[३] इसीलिए जनतन्त्र के बजाय तत्त्वज्ञ राजा का बुद्धिमत्ता भरा एक-तन्त्री शासन उसकी नजर में अधिक अच्छा था। रूसो कहता 'सम्पूर्ण जन-तन्त्र मनुष्य के काम की चीज नहीं है। हां, अगर देवताओं का देश हो तो भले ही उनका शासन जनतन्त्री हो सकता है"।[४] डी तकाविले इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि जनतन्त्र समाज में औसत दर्जे की मरी समानता पैदा कर देता है। सर हेन्रीमेन को यह भय था कि जनता का

१ स्वराज्य शास्त्र (हिन्दी संस्करण) पृ० २४-२५

२ दि मॉरल बेसिस ऑफ डेमोक्रेसी पृ० १३

३ रिपब्लिक बुक आठवीं।

४ दि सोशल कंट्राक्ट, अध्याय चौथा

राज निर्माण करने से प्रगति रुक जायगी। लेकी की राय है कि जनतन्त्र में कदम-कदम पर हस्तक्षेप का भय रहता है और स्वाधीनता के विचारों का विरोध (antithetical) होता है। बिस्मार्क जनतन्त्र को घृणापूर्वक भावुकता का रोना कहता था। प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक फैकेट जनतन्त्र को 'अयोग्यता का' सम्प्रदाय कहता था। नित्शे कहता, जनतन्त्र राजनैतिक संगठन को पतन की ओर ले जाता है। वॉल्टेर जनतन्त्र का इसलिए विरोधी था कि वह मनुष्यों को बैल—पशु मानता था और इसलिए उन्हें आर, जुए और घास का ही पात्र समझाता था। हमारे अपने जमाने में बर्नार्ड शा लिंकन द्वारा की गई जनतन्त्र की परिभाषा को अद्भुत बेवकूफी मानते हैं। वे कहते हैं लोगों ने शासन में काफी रुकावटें डाली हैं, बगावतें की हैं, परन्तु उन्होंने सही मानों में शासन—राज चलाने का काम तो कभी किया ही नहीं।[1]

पर इतना सब होने पर भी हमें कहना होगा कि जनतन्त्र ही एक पद्धति है जिसमें व्यक्ति और राज्य के हितों का सामंजस्य हो सकता है। जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा है, यद्यपि तमाम देशों के लिए सदा सर्वकाल किसी एक प्रकार का शासन सर्वोत्तम नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह तो मानना ही होगा कि अकेला जनतन्त्र ही 'अच्छे जीवन' के विकास के लिए आवश्यक परिस्थिति निर्माण कर सकता है। लॉर्ड ब्राइस ने कहा है—समाज के अधिक-से-अधिक संख्या में समान अधिकारों के साथ शासन में समान अधिकारों के साथ हिस्सा लेने का मौका मिलने से समाज के समस्त व्यक्तियों को बड़ा सन्तोष मिलता है और इससे समाज का हित भी होता है।[2] इसके अलावा जैसा कि प्रो० लेनार्ड ने कहा है—जनतन्त्र निरी एक शासन-पद्धति नहीं है। वह एक सामाजिक आदर्श भी है। और आदर्श जितना उच्च होगा उतना ही व्यवहार में

१ एवरी बडीज पोलिटिकल वॉट इज वाट—पृ० ३३६
२ मोडर्न डेमाक्रसी—जिल्द १, पृ० ५०

उसका मुश्किल होना भी स्वाभाविक ही है।'[1]

जनतन्त्र अत्यन्त मूल्यवान वस्तु है, क्योंकि उसमें मानवता का आदर है। मिसेस वेब कहती हैं कि राजनीति में जनतन्त्र का यह चमत्कार है कि उसमें मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अवकाश है।[2] जान स्टुअर्ट मिल लिखता है कि 'जनतन्त्र का सबसे बड़ा गुण तो यह है कि अन्य किसी भी पद्धति की अपेक्षा इसमें अधिक अच्छे और ऊंचे प्रकार से राष्ट्र के चरित्र का विकास होता है। शिक्षणात्मक दृष्टिकोण से भी जनतन्त्र अच्छी चीज है क्योंकि जैसा कि प्रो० बर्न्स कहते हैं 'सबसे अच्छी शिक्षा वह होती है जो मनुष्य खुद-बखुद प्राप्त करता है। राजनैतिक बुद्धि के जिन स्रोतों तक दूसरी पद्धतियां पहुँच भी नहीं पाती हैं जनतन्त्र वहां पहुंचकर उनका उपयोग कर लेता है।'

परन्तु साथ ही यह भी मंजूर करना होगा कि जीवन की अन्य कितनी ही अच्छी बातों की भांति जनतन्त्र में भी कई बुराइयां हैं। आज इनकी वजह से जनतन्त्र की आफत आगई है। सच तो यह है कि आज वह कसौटी पर है। उसका भविष्य सन्देह में पड़ गया है, कल इसका क्या रूप होगा कह नहीं सकते। आइए, जनतन्त्र पर आये इस संकट का हम जरा विस्तार से विवेचन करें।

: ३ :

जनतन्त्र की मुसीबत

सन् १९१४-१७ का महायुद्ध जनतन्त्र की रक्षा और युद्धों को हमेशा के लिए दुनिया से मिटाने के लिए लड़ा गया था। परन्तु उस लड़ाई के बाद दुनिया को बड़ी निराशा हुई। वर्साय की सन्धि ने शान्ति की स्थापना करने के बजाय इस दूसरे युद्ध की बुनियाद डाल दी जो

१ डेमाक्रेसीः दि थ्रेटंड फाउण्डेशन पृ० ६

२ मोडर्न स्टेट पृ० ८४

भगवान् की दया से अब समाप्त हो गया है। जनतन्त्र के लिए संसार को सुरक्षित करने के बजाय संसार के सामने यह समस्या खड़ी हो गई कि वह अपने आपको इस तथाकथित जनतन्त्र से कैसे बचावे। जनतन्त्री युग को जबरदस्ती लादने के प्रयत्न ने यूरोप में अधिनायक तन्त्री अमलदारियों को जन्म दिया। इन अधिनायक तन्त्रों का मुकाबला करने के लिए जनतन्त्री सरकारों ने जान में या अनजान में अपने प्रदेशों से भी जनतन्त्र को देश-निकाला दे दिया। अटलांटिक चार्टर के शब्दों में दूसरा महायुद्ध इस तत्त्व के लिए लड़ा गया कि दुनिया के तमाम देशवासी अपने लिए जिस प्रकार की चाहें शासन-पद्धति कायम कर सकते हैं। यह उन्हें अधिकार है। परन्तु धन्य है संयुक्त राष्ट्रों की पाशविक निर्लज्जता को कि लड़ाई खत्म भी नहीं हो पाई, कि उन्होंने इस चार्टर को ज्यों-का-त्यों—सही सलामत—अतल महासागर में डुबो दिया, ताकि आगे किसी को चौंकने-उलहना देने की गुंजाइश ही न रहे। फिर तो—एक बड़ा "वी फॉर विक्टरी" ही लड़ाई का एक मात्र और सच्चा उद्देश रह गया। सैन फ्रान्सिस्को परिषद् की कार्रवाई ने भी इस बात को सन्देह के परे सिद्ध कर दिया कि इन तीन बड़ों की एक मात्र महत्त्वाकांक्षा यही है कि अब हमेशा के लिए वही संसार में सर्वोपरि रहें। बेशक, वे जबान से स्वतन्त्रता और जनतन्त्र का भी उच्चारण करते रहते हैं और दलित राष्ट्रों का मन रखने के लिए स्वशासन तथा पूर्ण स्वतन्त्रता का अर्थ करने में बाल की खाल निकालते रहते हैं। यह सच है कि इटली, जर्मनी और जापान की फासिस्ट सरकारों को पराजित कर दिया गया है, परन्तु फासिज्म का भूत तो पहले से भी अधिक बलशाली बन गया दीखता है। 'विजय' खुद-ब-खुद सिद्धि नहीं, बल्कि उसके लिए अवसर प्रदान करनेवाला एक साधन मात्र है। जनतन्त्र को वह एक मौका देत है। उस मौके का उपयोग होगा ही इसका कोई निश्चय वह नहीं दिला सकती।[1] और अब यह लगभग साफ हो गया कि एकबार

[1] रिफ्लेक्शन्स ऑन दि रेवोल्यूशन ऑफ अवर टाइम्स—पृ० १४६

फिर यह मौका गंवा दिया गया है। बर्नार्ड शा कहते हैं—"पश्चिम में कहीं भी जनतन्त्र नहीं है। वहां तो सर्वत्र विशुद्ध दौलतमन्दों की —और अब तो नख-शिखान्त—फासिस्ट हुकूमतें हैं।" ये वचन इंग्लैंड की मौजूदा मजूर-सरकार को भी पूर्णतया लागू होते हैं क्योंकि साम्राज्यवाद और जनतन्त्र आपस में कभी मेल खा ही नहीं सकते। सिर्फ इतना ही फर्क है कि अब चर्चिल के फासिज्म के बजाय वहां मजदूर हुकूमत की डिक्टेटरी कायम हो गई है। संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) नया और जरा अधिक अक्लमन्द राष्ट्र है। उसे प्रत्यक्ष "दिखनेवाले साम्राज्य" की पर्वाह नहीं है। परन्तु छिपे-छिपे वह अपने अदृश्य साम्राज्य के हाथ पैर—खास तौर पर चार तरह की आजादी के नाम पर—निश्चित रूप से फैला रहा है। पर इन तीनों में सोवियट रूस सबसे अधिक होशियार है। समाजवाद के लिए संसार को सुरक्षित करने के लिए वह सारी दुनिया को पदाक्रान्त करने पर तुल गया है। इस तरह इस दूसरे महायुद्ध के बाद भी जनतंत्र का भविष्य अत्यन्त अन्धकारमय और निराशाजनक है। और अब कहीं संयुक्त राष्ट्रों ने विभक्त राष्ट्र होने का निश्चय कर लिया तो समझ लीजिए कि संसार का पूर्ण विनाश निश्चित है। ब्रिटेन का शासन करनेवाली लेबर पार्टी के प्रभावशाली मुख-पत्र "डेली हेरल्ड" ने साफ तौर पर लिख दिया है कि "संसार आंखें खोलकर फिर महायुद्ध की तरफ चल पड़ा है। इस गति से तो बहुत जल्दी हमें हिटलर की मौत पर शोक करना होगा क्योंकि हमको एकता में बांधनेवाला वही अकेला था।"

पूंजीवादी जनतन्त्र

पश्चिम की जनतन्त्री हुकूमतें आज जिस नाजुक अवस्था में से गुजर रही हैं उसके कारणों को ढूंढने के लिए बहुत दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। प्रो० टॉनी के शब्दों में कहें तो "आज की आर्थिक और राजनैतिक नासाज़ी की जड़ में हमारा लालची समाज है। पूंजीवाद तभी तक मीठा और उदारता का ढोंग बना सकता है, जब तक उसकी जेब को कोई हाथ नहीं लगाता। वह सामाजिक सुधार और राजनैतिक आज़ादी का भी

लालच जनता को दिखा सकता है। पर उसकी साफ-साफ शर्त यह होगी कि इस आज़ादी का प्रयोग खुद पूंजीवादी पद्धति की जड़ काटने के लिए नहीं किया जायगा। और ज्यों ही उसे यह भय हो जाता है कि उसका अपना अस्तित्व खतरे में पड़ रहा है तो वह फ़ौरन फ़ौलादी घूंसे को छिपानेवाले मखमली दस्तानों को निकाल फेंकता है। वहां तो तभी तक ठीक है जब तक उनकी राग में राग मिलाते जाइए। अपने पुराने वैभव और मौजूदा ऐशो-आराम की रक्षा के लिए वह चीते की तरह झपटने में कभी नहीं हिचकता। और फासिज्म आखिर और क्या होता है? भूतकाल के वैभव की हिंसापूर्वक रक्षा द्वारा भविष्य को क़ैद करने का यत्न करनेवाले विशेष अधिकारवालों का मृत्यु-गीत ही तो है। दूसरे शब्दों में अपनी जान बचाने के लिए पूंजीवादी जनतन्त्र की वह अन्तिम छटपटाहट है[1]। असल में पूंजीवाद और जनतन्त्र के बीच स्वाभाविक और आंतरिक विरोध है। पूंजीवादी समाज में उत्पादन के साधनों के मालिक का उत्पादन में मुख्य उद्देश नफ़ा होता है। इसके विपरीत जनतन्त्र में मनुष्य अपने राजनैतिक अधिकारों का उपयोग राज्य की सत्ता द्वारा समाज की सुख-सुविधा बढ़ाने में करने का यत्न करता है। आर्थिक जगत के एकतन्त्र का राजनैतिक जनतन्त्र के साथ तब तक बराबर मेल क़ायम रहा जब तक पूंजीवाद अपने विकास-विस्तार की अवस्था में था। परन्तु पिछले महायुद्ध के बाद से पूंजीवाद का ह्रास शुरू हो गया। फलतः आज हम समाज में व्यापक बेकारी फैली देखते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप विपुलता के बीच अकाल का चमत्कार दिखाई दे रहा है। जनता ने राजनैतिक सत्ता का उपयोग अपनी माली-हालत सुधारने के लिए करना चाहा। पर यह तो मालदार लोगों के विशेषाधिकारों को सीधी चुनौती थी। इसीलिए फासिस्ट ढंग की डिक्टेटरी और सर्व सत्ताधारी हुकूमत शुरू हुई। आज ब्रिटेन और युक्तराष्ट्र का तथाकथित जनतन्त्र भी नख-शिखान्त (सर से पैर तक) फासिस्ट बन गया है। ब्रिटेन

१ 'व्हेअर डू वी गो फ्राम हियर' ?

और जर्मनी के बीच प्रकार का नहीं, केवल मात्रा का ही अन्तर रह गया था। क्योंकि इटली और जर्मनी में समाजवाद का खतरा अधिक तीव्र था, इसलिए वहां का फासिज्म अधिक आक्रामक और निरंकुश हो गया; बस, यही।

जनतन्त्री देशों में पूंजीवाद के सामने कोई ऐसा गम्भीर खतरा नहीं खड़ा था। इसलिए वह अपेक्षाकृत अधिक शांत और सहिष्णु रह सकता था। पर सच्चा जनतन्त्र उस समाज में असम्भव है जो अफलातूं के शब्दों में कहें तो "ग़रीबों के शहरों और अमीरों के शहरों" में बटा हो। जब तक राज्य में समाज का विभाजन आर्थिक वर्गों में प्रकट होता रहेगा, इस वर्ग के अनुचरों के हाथों में ही उत्पादन के साधन होंगे या उनपर उनका प्रभुत्व होगा।[1]

इसलिए आर्थिक क्षेत्र में जिन बातों को बुनियादी सिद्धान्तों के तौर पर अभी मान लिया गया है जब तक वे नहीं बदलेंगी तब तक हमारे समाज की प्रकृति में भी कोई ख़ास फ़र्क नहीं होगा। तब तक जनतन्त्र बराबर पूंजीवाद का खरीदा हुआ गुलाम बना रहेगा। क्योंकि धारा-सभाओं, अखबारों, प्रकाशन गृहों, शिक्षा-संस्थाओं तथा प्रचार के अन्य साधनों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मालदार वर्ग का ही नियन्त्रण है। और वह जनतंत्र से भी बराबर अनुचित लाभ उठाता रहेगा और अंत में उसे लोकशाही से पूंजीशाही में बदल देगा। लार्ड ब्राइस ने ठीक ही कहा है कि "पूंजीशाही से अधिक कट्टर और दीर्घद्वेषी दुश्मन जनतंत्र का और कोई नहीं।" और दुश्मन भी बड़ा भयंकर। क्यों कि वह ज़ोर-ज़बरदस्ती से नहीं, गुप्त रीति से, धोखा देकर और फुसलाकर अपना काम करता है। और इसलिए लोग गफलत में रह जाते हैं।[2] पुराने जमाने के 'पाकेट बरोज' से लेकर इस युग की 'लॉबींग' और 'नर्सिङ्ग कान्स्टि-

१ दि स्टेट इन थियरी एण्ड प्रेक्टिस—प्रो० लास्की—पृ० ३२८
२ मॉडर्न डेमाक्रसीज (जिल्द दूसरी)—पृ० ५३३

ट्य ृएर्न्सीज़' तक पूंजीवादी जनतन्त्र की शरारतें बराबर ज्यों-की-त्यों क़ायम हैं।

लोकशाही बनाम हुल्लड़शाही

आधुनिक जनतन्त्रों में पैसे का जो बुरा प्रभाव है उसके अलावा चुनाव की प्रथा भी बड़ी दोषपूर्ण और अनिष्ट है। मतदाताओं के संघ बहुत विशाल होने के कारण मतदाता और उम्मीदवारों के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क एकदम असम्भव हो जाता है। इसलिए चुनाव की मुहिम अनिवार्य हो जाती है, जिसकी बुराइयों से हम सब खूब परिचित हैं। बर्नार्ड शा अपने अनोखे ढंग से इन चुनावों की सभाओं को "निन्दनीय और घृणित" बताते हैं जिनमें "समझदार आदमी बगैर नशा किये इस तरह चीखते-चिल्लाते रहते हैं, मानो उन्हें कोई होश ही न हो। यहां तक कि राह से निकलता हुआ मामूली आदमी कहीं उन्हें देख ले तो उसे यह निश्चय हो जाय कि वह कहीं किसी पागलखाने में चला आया है, जहां अत्यन्त भयानक मानसिक दुरवस्था में पहुंचे हुए पागलों को रक्खा जाता है।" वे आगे कहते हैं "जैसे-जैसे मेरी उम्र बढ़ती जाती है, यह देखकर मुझे और भी अफ़सोस होता है कि राष्ट्र की सरकारों ने भी इसे एक गम्भीर काम समझ रक्खा है। यह तो असह्य है और मनुष्य-स्वभाव तथा नागरिक सभ्यता के लिए एकदम घृणोत्पादक है।"[1] मतदार हलके बेहद बड़े होने के कारण इस बात का कोई निश्चय नहीं रहता कि प्रतिनिधियों का चुनाव सही-सही ही होगा। गांधीजी कहते हैं "यह तो लोकशाही के बजाय हुल्लड़शाही है। सभ्य, योग्य, और शान्त स्वभाववाले आदमी तो चुनावों की इस फ़ज़ीहत से अपने आपको दूर ही रखना पसन्द करते हैं, इसलिए अविवेकशील और मोटी खालवाले उम्मीदवार रिश्वत और अनैतिकता के बल पर जीत जाते हैं। फिर इन चुनावों में खर्चा भी इतना लगता है कि लोकशाही पूंजीपतियों के कब्जे में ढकेल दी जाती है और कुल

१ 'दी पोलिटिकल मेड-हाउस इन अमेरिका एण्ड नियर होम' पृ० २५-२६।

मिलाकर उन्हींके हाथों में सत्ता भी पहुंच जाती है। इसके अलावा बड़े-बड़े क्षेत्रों में चुनाव की पद्धति एक प्रकार से यन्त्रवत निर्जीव बन जाती है, क्योंकि वोटर प्रायः उम्मीदवार को नहीं जानते, जो कड़ी दल-बन्दियों में बँटे दलों द्वारा खड़े कर दिये जाते हैं। इसलिए चुनावों में जनता को दिलचस्पी भी बहुत कम होती है। क्योंकि शासन और क़ानून बनाने की क्रिया में ज़बरदस्त केन्द्रीकरण होता है। इसलिए आमतौर पर प्रायः तमाम जनतन्त्री देशों के वोटरों में अब इन वस्तुओं के प्रति एक प्रकार की अरुचि-सी हो रही है। क्योंकि जब चुनाव होते हैं तब वोटरों को पोलिंग स्टेशनों पर एक तरह से खींच-खींचकर ले जाना पड़ता है। संयुक्त-राष्ट्र जैसे प्रगतिशील देश में भी साधारणतया केवल आधी जनता, जिसे मत देने का अधिकार है, उसका उपयोग करने के लिए जाती है। जिस पद्धति में मस्तकों की नहीं बल्कि केवल हाथों की गिनती होती है, जहां मतों को तौला नहीं, बल्कि केवल गिना जाता है, वहां यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि बुद्धिशाली वर्ग उसमें बहुत उत्साह दिखावेगा।

राजनैतिक चुनाव-संगठन

सुसंगठित राजनैतिक दलों के अत्यधिक प्रचार के कारण स्वतंत्र विचार और कार्य के लिए बहुत कम अवकाश रह जाता है। एक आदमी किसी जगह के लिए अच्छे-से-अच्छा उम्मीदवार हो सकता है। पर अगर वह उन दलों के नेताओं का प्रीतिपात्र नहीं है, तो उसके चुने जाने की कोई उम्मीद नहीं करनी चाहिए। धारासभाओं में तो पार्टी के सदस्यों के पीछे भी हमेशा 'हंटर' लेकर लगे रहने की ज़रूरत रहती है। मेरा मतलब यह नहीं कि इस आधुनिक पार्टी-प्रथा में कोई भलाई ही नहीं है। उदाहरणार्थ राष्ट्रीय महत्त्व रखनेवाले कुछ ख़ास-ख़ास प्रश्नों पर लोकमत को शिक्षित करने में इसका बड़ा उपयोग होता है। पर यह तो मानना ही होगा कि आधुनिक पार्टियां बहुत सख्त हो गई हैं। ए० आर० लॉर्ड के शब्दों में यह पार्टी-प्रथा यन्त्रवत् जड़-सी प्रतीत होती है। इसमें लोकमत को पूरी तरह और सही-सही रूप से बांटकर नहीं प्रकट किया जा

सकता।'[1] एच० जी० वेल्स ने लिखा है—"हमारी वर्तमान चुनाव-प्रथा प्रातिनिधीक शासन-पद्धति का निरा मज़ाक है। अटलांटिक के दोनों तरफ़ बहुत बड़े-बड़े, मूर्खता भरे और भ्रष्ट पार्टी-संगठन क़ायम हो गये हैं।"[2] धारा सभाओं में विभिन्न विषयों की बहसों में अब कोई सार नहीं रहा है, क्योंकि प्रत्येक वाद-विवाद का परिणाम पार्टियों की संख्या पर पहले ही से निश्चित रहता है। तथाकथित प्रातिनिधीक पार्लमेन्टों के प्रति अब जनता में कोई आदर नहीं रह गया है। वे तो निरे ज़बानी जमा खर्च की दूकानें रह गई हैं।

केन्द्रीकरण

चूंकि संसार को युद्ध के भूत ने पछाड़ रक्खा है, हर देश को सदा बाहरी आक्रमण का भय सताता रहता है। और इसलिए वहां राजनैतिक सत्ता का अधिकाधिक केन्द्रीकरण हो रहा है। पार्लमेन्टरी काम के भी अत्यधिक केन्द्रीकरण ने लोकशाही को मृगजल और कीमती तमाशा बना दिया है। धारा सभाओं का काम बहुत बढ़ गया है। इससे वह अच्छी तरह होता भी नहीं। एक तो अकारण देर हो जाती है, और समय तथा शक्ति का भी अपव्यय होता है। इनसे लोकशाही के इस बुनियादी सिद्धान्त की भी हत्या हो जाती है कि "जिसका सबसे सम्बन्ध है उस पर सबको विचार करना चाहिए।"

आधुनिक लोकशाही की थोड़े में ये ख़ामियाँ हैं। और भी कई ख़ामियां आसानी से गिनाई जा सकती हैं पर उनका हमारे मुख्य उद्देश से कोई सम्बन्ध नहीं। यहां तो इतना ही कहना काफ़ी होना चाहिए कि लोकशाही आज एक ऐसी जगह खड़ी है जहांसे दो अलग-अलग रास्ते उसके सामने हैं। उसके सामने जीवन-मरण का प्रश्न है। उसे जीना तो है; पर वह किस राह को पकड़े?

१ **प्रिन्सिपल्स ऑफ पालिटिक्स**—पृ० १६२

२ **दि न्यू वर्ल्ड ऑर्डर**—पृ० १२३

: ४ :

गांधीजी का तरीक़ा

लोकशाही इस संकट को कैसे पार कर सकती है? इस सम्बन्ध में आधुनिक विचारकों ने कई तरीक़े सुझाये हैं। रामसे म्योर अपनी किताब "क्या लोकशाही असफल रही?" (इज डेमाक्रसी फेल्यूअर?) नामक पुस्तक में उसे अनुपात वाले प्रतिनिधित्व की हिमायत करते हैं, जो सिंगल ट्रान्स्फरेबल वोट से हो। क्योंकि इस पद्धति से देश में छोटी संख्यावाले बहुत बड़ी बहुमति प्राप्त नहीं कर सकेंगे। और जब पार्लमेंट बनेगी तब उसमें सभी रायों का समुचित प्रतिनिधित्व हो जायगा। उम्मीदवारों की नामज़दगी के समय पार्टियों की चुनाव हलचलों का भी इस सानुपात प्रतिनिधित्ववाली पद्धति द्वारा अन्त हो जायगा; क्योंकि उससे देश के उत्तमोत्तम लोगों को मौक़ा मिल जायगा। इसके अलावा मि० म्योर पार्लमेंट में काम के बोझ को कम करने के लिए कमिटियां बना देने की पद्धति भी सुझाते हैं। हालांकि उनके सुझाव व्यावहारिक हैं, परन्तु इनसे समस्या पूरी तरह हल नहीं होती। ये सुझाव केवल उसे ऊपर से छू जाते हैं। सानुपात प्रतिनिधित्व अच्छी वस्तु है। परन्तु केवल उससे काम न चलेगा। फिर प्रत्यक्ष शासन और कानूनों के बनाने में जो सत्ता का केन्द्रीकरण हो जाता है उसका भी हल इस कमिटी वाले सुझाव में नहीं है। लार्ड ब्राइस अब सारी आशा मनुष्य जाति की बौद्धिक और नैतिक प्रगति में लगाये बैठे हैं। वे कहते हैं "जब मनुष्य की बुद्धि का विकास होगा, तो पारस्परिक सहानुभूति और कर्तव्य भावना भी जागेगी और इनके आते ही सब कुछ ठीक हो जायगा[२]।" परन्तु आधुनिक जनतन्त्री हुकूमतों में जो सड़न घुसी हुई है, वह शुभेच्छाओं से नष्ट नहीं होगी। इस समस्या की उलझनों को सुलझाने

२ मॉडर्न डेमाक्रसीज़—पृ० ६६६

लिए कुछ रचनात्मक और ठोस उपायों को भी काम में लाना होगा। लास्की को आशा है कि "स्थापित स्वार्थों को समाज की संपत्ति बनाकर भावी विपुलता के अन्दर से हम ग़रीबी को बिलकुल नष्ट कर सकेंगे और इससे समाज में स्थायी और मज़बूत लोकशाही की नींव डाल सकेंगे। पर क्या केवल सम्पत्ति पर समाज का स्वामित्व काफ़ी होगा? हम पहले ही देख चुके हैं कि सोवियट रूस में भी सम्पत्ति पर समाज का अधिकार हो गया है। पर इसका परिणाम क्या हुआ है? हम देखते हैं कि वहां किस प्रकार सत्ता का केन्द्रीकरण हुआ है, और किस प्रकार समाज को सैनिक संगठन में जकड़ दिया गया है। सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स कहते हैं कि "हमको शासन के ऐसे रूपों का निर्माण करना चाहिए कि जिनमें आर्थिक संयोजन और सम्पूर्ण केन्द्रीकरण की जो कार्य क्षमता होती है उसका उस राजनैतिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता के साथ, जो केवल लोकशाही के अदर ही पाई जाती है, पूर्ण समन्वय हो'। चेकोस्लोवाकिया के प्रेसीडेण्ट एडवर्ड बेन्स लोकशाही नेता के गुणों की एक लम्बी फेहरिस्त गिनाते हैं। उसके अन्दर कई गुणों का सुन्दर समन्वय होना चाहिए। उदाहरणार्थ वह एक ऊंची कोटि का आदमी हो, उसकी बुद्धि परिपक्व और सुसंस्कृत हो, उसका ज्ञान शास्त्र-शुद्ध हो, सूझ-बूझ अच्छी हो, उसमें तेज हो, जल्दी निर्णय और तुरन्त काम करने की क्षमता हो तथा शारीरिक बल हो और नैतिक सामर्थ्य भी हो।[२] पर सवाल यह है कि ऐसे क़ाबिल आदमी हमें मिलेंगे कहां?

अपने दस्तूर के मुताबिक बर्नार्ड शा का इस पर भी एक मौलिक सुझाव है। उनकी राय है कि बालिग़ मताधिकार लोकशाही को जान से मार डालता है। 'टाइम एण्ड टाइड' के एक ताज़ा अंक में वे लिखते हैं—"मैं प्राणि-विज्ञान की उस शाखा का विद्यार्थी हूं, जिसे मनुष्य-स्वभाव कहते हैं। कहा जाता है कि जनता की आवाज़ ईश्वर की आवाज़

१ डेमाक्रसी अप-टू-डेट—पृ० १०७

२ डेमॉक्रसी टुडे एण्ड टुमॉरो—पृ० २१२

है। यह भी माना जाता है कि २१ साल की उम्र हो जाने पर हर आदमी की राजनैतिक योग्यता और होशियारी एकदम अनन्त गुनी बढ़ जाती है और यह कि वह कभी भूल कर ही नहीं सकता। मेरे लिए तो यह परियों के देश की कहानी जैसी वस्तु है। मैंने इसे कभी सही नहीं माना है और न कभी इस मान्यता को मैंने अपने विचार का आधार बनाया है।" इसलिए उनका सुझाव है कि "योग्य और परखे हुए आदमियों की एक समिति या सभा हो और वह देश का शासन करे। हां, उस पर कड़ी से कड़ी टीका करने का और उसे हटाने तथा समय-समय पर बदल देने का भी जनता को ज़रूर अधिकार हो।"[1] उनकी राय यह है कि लोकशाही के हिमायती का असली काम यह है कि वह कोई ऐसी कसौटी ढूंढ निकाले जिससे उच्च प्रकार के स्त्री या पुरुष क़ानून-निर्माताओं को फौरन पहचाना जा सके। इनकी फिर एक मण्डली बना दी जाय और जब ज़रूरत हो इस मण्डली में से समाज अपनी धारा-सभाओं के लिए क़ानून-निर्माताओं का चुनाव कर लिया करे। इस तरह शा ऐसे शासन को अच्छा मानते हैं जिसे केन्द्रित सत्ता वाली लोकशाही कहा जा सकता है। परन्तु हम आदर पूर्वक इन अपूर्व नाटककार से पूछना चाहते हैं कि इस उक्त प्रकार के आदमियों की कसौटी का निर्णय कौन करेगा? साफ़ है कि ये बड़े क़ानून-निर्माता अपने आपको राष्ट्र के उद्धारक या देवता बताकर खुद ही यह काम अपने कन्धों पर ले लेंगे। इसलिए शा की कल्पित लोकशाही भी सच्ची लोकशाही नहीं; सर्वसत्ता-धारी तन्त्र ही होगा।

तब लोकशाही किस राह को पकड़ेगी? हमारी राय है कि उसे गांधीजी का तरीक़ा ही अपनाना होगा, जिसमें दो बुनियादी सिद्धांत हैं अहिंसा और विकेन्द्रीकरण। इन सिद्धांतों को मैं ज़रा विशद कर दूं।

अहिंसा

महात्मा गांधी की राय है कि लोकशाही की रक्षा अहिंसा से ही हो

[1] एवरी बडीज़ पोलिटिकल वॉट इज़ वॉट—पृ० ३४१

सकती है, क्योंकि जिस हद तक उसमें हिंसा की सहायता ली जायगी वह ग़रीबों का भला या रक्षा नहीं कर सकेगी। "लोकशाही के बारे में मेरी यह कल्पना है कि उसके अन्दर कमज़ोर से कमज़ोर को भी अपने विकास के लिए उतना ही अवकाश मिलना चाहिए जितना कि सबसे बलिष्ठ को। हिंसा के अवलम्बन में यह कभी सम्भव ही नहीं है।[1] आज पश्चिम में लोकशाही जिस रूप में प्रचलित है, वह नाज़ीज्म या फासीज्म का ही एक सौम्यसा रूप है। हम यों भी कह सकते हैं कि साम्राज्यवाद की नाज़ी या फासिस्ट प्रवृत्तियों को छिपाने के लिए ऊपर से डाला गया वह एक चोगा मात्र है।" फिर "लोकशाही और हिंसा आपस में एकदम बे-मेल चीज़ें हैं। जो राष्ट्र आज कहने भर को जनतन्त्री हैं उन्हें या तो साफ़-साफ़ तौर पर सत्ता के पूर्ण केन्द्रीकरण की तरफ़ जाना होगा या अगर उन्हें सचमुच जनतन्त्री बनना है तो साहस पूर्वक अहिंसा का अनुगामी होना पड़ेगा। अन्यथा सच्चा जनतन्त्री शासन एक सपना ही बना रहने-वाला है।[2] पूंजीवादी समाज तो प्रत्यक्ष शोषण है। और शोषण चाहे वह किसी प्रकार का हो उसकी प्रकृति में ही हिंसा है। इसलिए अगर शोषण को मिटाना है, तो हमें अहिंसक समाज या अहिंसक राज्य की स्थापना करनी होगी। इस समाज की रचना निश्चय ही आर्थिक स्वतंत्रता और समानता के आधार पर ही हो सकती है क्योंकि बग़ैर आर्थिक न्याय के सच्चे अर्थों में राजनैतिक जनतन्त्र का अस्तित्व ही असम्भव है।

इस आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता को हम कैसे लावें? एक रास्ता है सोवियट कम्यूनिज्म का, जैसा कि रूस में है। व्यवहार में उसका अर्थ है किसानों और मज़दूरों की डिक्टेटरी अर्थात् मालदार लोगों का हिंसक और निर्दयता के साथ दबा दिया जाना। इसमें खुद मजदूरों और किसानों का भी जीवन इतनी कठोरता और इतनी पूर्णता के साथ जकड़ दिया जाता है कि उसमें स्वतंत्रता या लोकशाही जैसी कोई वस्तु ही नहीं

१ 'हरिजन' ता० १८-५-१६४०

२ ,, ता० १२-११-१६३८

रह जाती। दूसरे शब्दों में कहें तो इलाज बीमारी की अपेक्षा भी अधिक तकलीफ़ देह होजाता है। बोरिस ब्रुजकूज ने ठीक ही कहा है कि 'मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्णतया दबा देनेवाली एक लेवियेथन प्रणाली के शासन का ज़िक्र हॉब्स ने किया है, वह इस समाजवादी राष्ट्र में जितनी पूर्णता के साथ पाई जाती है, उतनी न तो पुराने ढंग की पश्चिमी राजसत्ताओं में थी, और न आज की जनतन्त्री शासन-प्रणालियों में है।'[1] मेक्स ईस्टमन सोवियट रूस का ज़बरदस्त हिमायती था। पर उसका भी भ्रम बाद में दूर हो गया। वह लिखता है—"अब मेरा ख़याल है कि मजूर और किसानों के राज की स्थापना के नाम पर, या रोमन साम्राज्य की स्थापना के लालच से या अन्य किसी भी नाम से जब मुट्ठी भर आदमी एक मज़बूत संगठन बनाकर सत्ता को अपने हाथ में ले लेते हैं, फिर वे चाहे कितनी ही होशियारी के साथ जनता को अपने साथ शामिल कर लें, उसका परिणाम होगा सत्ता के पूर्ण केन्द्रीकरण में ही।[2] और केन्द्रीकरण, नये से नये साधनों से, अत्याचार का दूसरा नाम मात्र ही है। युद्ध के यन्त्र को अत्यन्त कार्यक्षम बनाने के नाम पर भी ऐसे अत्याचारी शासन में मनुष्य के व्यक्तित्व के स्वाभाविक और स्वतन्त्र विकास का गला घोंटा जाता है। जॉन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि "राज्य का मूल्य उसके द्वारा शासित व्यक्तियों के जीवन से आंका जाता है।" नागरिक अपने आपको राष्ट्र के काम के लिए, चाहे वह कितना ही अच्छा हो, चुपचाप सौंप दें, इस बहाने उन्हें बुलाकर किसी भी राष्ट्र को अपने प्रजाजनों के विकास को रोकना नहीं चाहिए। अगर कोई राष्ट्र ऐसा करेगा तो वह देखेगा कि छोटे आदमियों के बल पर कोई बड़ा काम नहीं हो सकता।[3] इसीलिए तो जनतन्त्र का विकास अहिंसात्मक तरीक़ों से करना परम आवश्यक है।

१ इकनामिक प्लैनिंग इन सोवियट रशा—पृ० ७६

२ स्टालिन्स रशा एण्ड क्राइसिस इन सोशलिज्म—पृ० १२

३ ऑन लिबर्टी (थिंकर्स लायब्रेरी) पृ० १४३

विकन्द्रीकरण

तब अहिंसक जनतन्त्र का रास्ता क्या है ? वह है विकेन्द्रीकरण। हिंसा समाज को निश्चितरूप से केन्द्रीकरण की तरफ ले जाती है। और अहिंसा की प्रकृति है विकेन्द्रीकरण। गांधीजी हमेशा से राजनैतिक और आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ज़रूरत पर ज़ोर देते रहे हैं। और इसका रास्ता उन्होंने यह बताया है कि गांवों को जितना भी हो सके स्वावलम्बी और स्वशासित बना दिया जाय। ऐसा समाज अहिंसक संगठन का सुन्दर नमूना हो सकता है। अलबत्ता, उनका मतलब यह तो हरगिज़ नहीं है, कि ग्रामीण गणतंत्रों को अपने पुराने रूप में ही ज्यों-का-त्यों पुनः स्थापित किया जाय। यह न तो संभव है और न इष्ट ही। हमारी आधुनिक परिस्थिति और ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए उनमें आवश्यक सुधार हमें करने ही होंगे। फिर पुराने ग्रामीण गणतन्त्र भी एकदम दोष हीन तो नहीं थे। पर हां, यह तो मानना ही होगा कि इन ग्रामीण गण-तन्त्रों में विकेन्द्रित और अधिक-से-अधिक स्वशासित आर्थिक व राजनैतिक संगठन के रूप में एक आदर्श आर्थिक और राजनैतिक संगठन के बीज तो थे ही। इसलिए गांधीजी की निश्चित राय है कि भारत के भावी शासन-विधान में गांवों का मुख्य स्थान हो। उनमें अहिंसा और मानवता के आधार पर गृहोद्योगों का संगठन हो और उन का शासन पूर्णतया और सीधा जनतन्त्री आधार पर हो। फिर सब गांव भी तथा उनकी प्रवृत्तियां भी आपस में एक दूसरे के साथ मज़बूती के साथ सगठित हों। गांधीजी कहते हैं "वह राज्य सबसे अच्छा होगा जहां शासन कम-से-कम होगा।'[1] राजनैतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण और कम करने के पक्षपाती अकेले गांधीजी ही नहीं हैं। पश्चिम के अधिकांश प्रगतिशील राजनैतिक विचारक भी इसकी ज़रूरत महसूस करने लगे हैं। प्लूरालिस्ट, गिल्ड सोशलिस्ट सिंडिकेलिस्ट और अनार्किस्टों* का

१ हरिजन २४-८-४०

* १ प्लूरालिस्ट—ये लोग मानते हैं कि हरएक व्यक्ति को एक समय में एक से अधिक मत देने का अधिकार होना चाहिए।

आपस में तफसीलों के बारे में भले ही मतभेद हो, पर सब-के-सब एक बात में सहमत हैं। सभी की राय है कि जनतन्त्र के अमल में फ़र्क करके उसे सौम्य बना देना जरूरी है। शासन में राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों क्षेत्रों में जो आज अत्यधिक केन्द्रीकरण हो रहा है उसके वे सब विरोधी हैं। प्रो० जाड ने लिखा है—"अगर सामाजिक --अर्थात् सर्व सम्मत कार्यों में मनुष्यों का विश्वास फिर से जगाना है तो 'राज्य' के छोटे-छोटे टुकड़े करने होंगे और उसके कार्यों का इस तरह बंटवारा करना होगा कि एक ही आदमी कई छोटी-छोटी समितियों में एक साथ रह सके, जिनको उत्पादन तथा स्थानीय शासन सम्बन्धी अमली काम करने की सत्ता हो। इनके सदस्य की हैसियत से व्यक्तियों को पुनः यह अनुभव करने का मौका मिलना चाहिए। राजनैतिक दृष्टि से उनका भी कुछ महत्त्व है, उनकी भी कोई सत्ता है और वे सचमुच समाज की कोई सेवा कर रहे हैं। इस दिशा में विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि हमें शासन के यन्त्र का आकार-प्रकार भी घटाना होगा। छोटे-छोटे क्षेत्रों में स्वायत्त इकाइयां बनाना होंगी ताकि उनमें काम करने वाले अपने राजनैतिक परिश्रमों का फल प्रत्यक्ष रूप से देख सकें। उनको यह विश्वास हो जाय कि जहां सच्चा स्वशासन है, समाज पर उनकी इच्छा-अनिच्छा और विचारों का असर पड़ता है; क्योंकि समाज और वे अलग-अलग नहीं,

---

२ गिल्ड सोशलिस्ट—ये लोग मानते हैं कि उद्योग-धन्धों का नियंत्रण राज्य और मजदूरों के सहयोग से होना चाहिए।

३ सिंडिकेलिस्ट—ये लोग मानते हैं कि उत्पादन और वितरण के साधनों को ट्रेड यूनियनों (मजदूर संघों) के अधीन रहना चाहिए।

४ अनार्किस्ट (अराजकतावादी)—ये लोग मानते हैं कि समाज को अपनी ऐसी स्वाभाविक साधारण स्थिति में पहुंचा देना चाहिए जिसमें राज्य या किसी शासन-तंत्र की आवश्यकता न हो।—अनु०

एक ही हैं।[1] प्रो० कोल लिखते हैं "जनतन्त्र केन्द्रीकरण के खिलाफ ही है। क्योंकि जहां-जहां समुदाय की इच्छा के प्रकट होने की ज़रूरत महसूस होती है, वहां आत्मा खुद अपने आपको तत्काल और वहीं प्रकट करना चाहता है।" सबकी एक सम्मिलित मुख्य धारा बनाकर उसमें उसे प्रवाहित करने से उसकी अंतः-स्फूर्ति नष्ट हो जाती है, और साथ-साथ व्यक्तित्व भी।[2] "फेबियन सोशलिज्म" नामक अपनी एक अन्य पुस्तक में कोल ने आगे लिखा है—"अगर हम बिलकुल मामूली स्त्री-पुरुषों में मिलकर काम करने की शक्ति बांट देना चाहते हैं और चाहते हैं कि वे सार्वजनिक कामों को समझने लगें तो हमें अपने समाज का निर्माण कमकरों के छोटे-छोटे जनतन्त्रों के आधार पर करना होगा।" एल्डस हक्सले ने कहा है—अच्छे समाज के निर्माण का राजनैतिक उपाय यह है कि सत्ता का केन्द्रीकरण करके समाज को छोटे-छोटे स्वशासित ज़िम्मेवार घटकों में बांट दिया जाय।[3] सत्ता के केन्द्रीकरण से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की हानि होती ही है, और इससे जिन देशों में अब तक जनतन्त्री हुकूमत थी, उनमें समाज सैनिक संगठन में उत्तरोत्तर अधिकाधिक जकड़ता जा रहा है। अगर यही पद्धति जारी रही तो हम शायद इस बात को भूल जावेंगे कि जनतन्त्र मनुष्य के लिए है तन्त्र के लिए मनुष्य नहीं। जनतन्त्र एक साध्य का साधन है, इसलिए मनुष्यों की सामाजिक और मानसिक सुविधा के अनुकूल हमें जनतन्त्र को बनाना होगा। आधुनिक समाज-शास्त्री भी मानते हैं कि मनुष्य छोटे-छोटे समूहों में सबसे अधिक सुख का अनुभव करता है।[4] राय ग्लेण्डी का कथन है कि "यदि मनुष्य के स्वभाव की इस विशेषता का हम ध्यान नहीं रक्खेंगे तो संसार में नवीन समाज की रचना करने की हमारी तमाम बड़ी-बड़ी

१ माडर्न पोलिटिकल थियरी—पृ० १२०-२१
२ ए गाइड टू माडर्न पालिटिक्स—पृ० ५३२
३ एण्डस एण्ड मीन्स—पृ० ६३
४ दी फ्यूचर ऑफ एकानॉमिक सोसायटी—रॉय ग्लण्डी—पृ० २५१

योजनायें चकनाचूर हो जावेंगी। कार्ल मनहीम कहता है कि जिस चिड़िये कीड़े की भांति मनुष्य अपने छोटे से समाजरूपी नीड़ के बाहर ज़िन्दा नहीं रह सकता। प्रो० जिन्सबर्ग भी तो यही कहता है। समाज के एक अंग होने की भावना मनुष्य को अपने छोटे-छोटे समूहों में बन्धु-भाव के प्रेम से जोड़ देती है; प्रेम और एकता के इन बन्धनों में बंधे समाज में ही जनतन्त्र सफल हो सकता है; अन्यत्र नहीं। केन्द्रित सत्तावाली आधुनिक ढंग की जनतन्त्री हुकूमतों में यह चीज़ नहीं पाई जाती।" इसीलिए तो आजकल के प्रातिनिधीक ढंग के राष्ट्रों की खामियों का विश्लेषण करने के बाद प्रो० एडम्स हमें सलाह देते हैं कि "बुराई की जड़ तक पहुंचकर सत्ता को विकेन्द्रित और सौम्य बनाओ'।" प्रो० लास्की विकेन्द्रीकरण को इसलिए पसन्द करते हैं कि जहां सत्ता अत्यधिक रूप से केन्द्रित है ऐसे शासन के मातहत मनुष्य निरे आज्ञा-पालन का अधिकारी रह जाता है और उसकी सारी सर्जन शक्ति मर जाती है। वह यन्त्र की तरह जड़ बन जाता है। केन्द्रीकरण से यकसापन पैदा होता है। और इसमें वह स्फूर्ति नहीं जो एक स्वतन्त्र व्यक्ति में होती है, जो हर जगह और हर मौके पर प्रकट होती रहती है।[२] प्रसिद्ध समाजशास्त्री लेवीज ममफोर्ड सुझाता है कि देहात में ऐसे छोटे-छोटे समाजों की रचना करनी चाहिए, जिनको अपना शासन करने की पूरी-पूरी आज़ादी हो। सच्चे और समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक जनतन्त्र की शिक्षा पाने की वे सबसे अच्छी जगहें होंगी। नौकरीशाही वृत्ति के खिलाफ़ ऐसे समाज एक अमूल्य और रामबाण दवा हैं। स्थानीय समस्याओं के सही सही हल ढूंढने के लिए जानकारी भरी चर्चाओं के लिए भी उनसे खूब अवकाश मिलेगा। लार्ड ब्राइस कहते हैं कि "जनतन्त्र का जन्म सबसे पहले इन छोटी-छोटी इकाइयों में ही हुआ। और यहींसे जनतन्त्र के पुरस्कर्ता और प्रणेताओं ने अपने सिद्धान्त पहले-पहल कायम किये।

१ दि मॉडर्न स्टेट, (अध्याय नवां)—पृ० २३४

२ एन इन्ट्रोडक्शन टु पोलिटिक्स—पृ० ६३

शासन-संस्था पर सच्चे लोकमत का किस प्रकार असर पड़ता है, इसका अध्ययन भी यहीं सबसे अच्छा हो सकता है; क्योंकि जनता के सामने चर्चा के लिए जो विषय आते हैं उनमें से अधिकांश की उनको प्रत्यक्ष जानकारी होती है।'[1] स्थानीय स्वशासन के लाभों को विशद करते हुए डा० बेनीप्रसाद लिखते हैं :—

"स्वशासन की सबसे उत्तम इकाई वही है जहांकी परिस्थिति का जनता को पूरा ज्ञान हो और लोग एक दूसरे के जीवन तथा चरित्र तक से परिचित हों। गावों में, क़स्बों में या ऐसे ही छोटे-छोटे समाजों में स्वशासन—सच्चे जनतन्त्र के लाभ प्रकट होते हैं। उनमें नागरिकोचित देश-प्रेम जागता है, मनुष्य को अपने निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर देखने का अभ्यास होता है, सहयोग की आदतों को प्रोत्साहन मिलता है, निर्णय करने की शक्ति का विकास होता है और लाखों-करोड़ों को अपना शासन आप करने का मौक़ा मिलता है, जो दूर की प्रातिनिधीक धारा-सभाओं आदि में जाने की आशा भी नहीं कर सकते। कस्बों और जिलों का स्वशासन केन्द्रीय धारासभाओं और शासन के बोझ को बहुत हलका कर देता है। आजकल के संसार में बड़े-बड़े राज्यों के मतदार-संघों में व्यक्ति बिलकुल डूब-सा जाता है। यह पद्धति व्यक्तियों को इस तरह डूबने से बचा लेगी। भौतिक शक्तियों को देखकर मनुष्य में जिस प्रकार अपनी असमर्थता का भान होता है, कुछ-कुछ इसी प्रकार की असमर्थता के भाव विशाल शासन-यन्त्र भी उसके दिल में पैदा कर देते हैं और इनसे वह दैववादी-सा बन जाता है। स्थानीय स्वशासन से यह बुराई दूर हो जाती है।

यूनान के शहरी राज्य

यूरोप में प्राचीन यूनान के शहरी राज्यों में इसी तरह का स्थानीय स्वशासन था। सर्वोच्च राजनैतिक सत्ता समस्त नागरिकों की सभा की

१ मॉडर्न डेमोक्रसीज (भाग दो) पृ० ४८६

थी। वह सभा खुद सरकार, पार्लमेंट, मन्त्रिमण्डल, धारा-सभा और न्याय-विभाग—सब कुछ थी। नागरिक रोज़ आपस में मिलते-जुलते थे। एक दूसरे को नज़दीक से जानते थे। एक ही छोटे से समाज के सदस्य थे। इसलिए पृथक् और सुसंगठित पार्टीबन्दियों की तथा चुनाव के लिए धुंआंधार प्रचार की भी वहां कोई ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि वे राज्य इतने छोटे-छोटे होते थे कि नागरिक-सभा में वोट देने का जिनको अधिकार होता, वे सब एक जगह एकत्र हो सकते थे और वहां उन्हें सारी बातें मनुष्य रूबरू व ज़बानी समझा सकते थे और नेतृत्व या किसी पद की चाह करने-वाले आदमी के व्यक्तिगत गुणों को खुद देखकर नागरिक अपनी राय बना सकते थे। शहरी राज्य छोटे-छोटे होते थे, क्योंकि ऐसे राज्यों में ही मनुष्यों का सामाजिक जीवन सम्भव था। अफलातूं कहता कि 'व्यक्तिगत जीवन के निकटतम पहुंचनेवाला राज्य ही आदर्श राज्य हो सकता है। शरीर के किसी अंग को चोट पहुंचती है तो सारे शरीर को दर्द होता है और चोट वाले भाग के साथ वह सह-अनुभूति करता है। समाज में यह तभी सम्भव होगा जब वह छोटी-छोटी और एकसे विचार व भावना-वाली इकाइयों में बंट जायगा। यूनानियों के लिए शहर इस प्रकार का एक सम्मिलित जीवन-सा था। उसका शासन-विधान एक कानूनी संगठन के बजाय केवल जीवन की पद्धति का निदर्शक मात्र था।

मेरा मतलब यह नहीं कि यूनान के ये राज्य पूर्ण थे। उनके भी अपने दोष और अपूर्णतायें थी हीं। उदाहरणार्थ उनमें प्रचलित गुलामी की प्रथा को कौन अच्छा कहेगा? पर हमें यह मंजूर करना होगा कि इस शान्त और हिलेमिले जीवन के कारण ही वे और खासकर अथेन्स शहर यूरोप के चिन्तन और संस्कृति की विकास-शाला बन सका! प्रो० डिलाइल बर्न्स ने ठीक ही कहा है कि "अथेन्स का जीवन और स्वतन्त्रता उत्पादक थे। कवि, कलाकार और दार्शनिक वगैरा जितने हम अथेन्स के इतिहास में पाते हैं उतने दूसरे किसी शहर के इतिहास में हमें नहीं मिलते। स्थापत्य, मूर्तिकला, नाटक और दर्शन के क्षेत्रों में अथेन्स ने इतने थोड़े समय में

जितनी प्रगति की, उतनी दूसरे किसी शहर ने नहीं की है।"[1]

हिन्दुस्तान के ग्रामीण जनतन्त्र

औद्योगिक क्रान्ति के पहले विभिन्न यूरोपीय देशों के गांवों में स्थानीय स्वशासन जारी था। प्रिन्स क्रोपाटकिन ने अपनी "म्यूच्युअल एड" नामक किताब में इसका बड़ा अच्छा वर्णन किया है। चीन और जापान भी ऐसे विकेन्द्रित ग्रामीण सङ्गठनों के प्राचीनतम घर रहे हैं। परन्तु हम इस बात पर गर्व कर सकते हैं कि संसार के समस्त देशों में केवल हिन्दुस्तान ही एक ऐसा देश है जहां स्थानीय स्वशासन का विकास "सबसे पहले हुआ और सबसे अधिक दीर्घकाल तक उसकी रक्षा की गई।"[2] ग्राम-संस्थायें हमारे देश में अज्ञात काल से रही हैं। कहा जाता है कि राजा पृथु ने गङ्गा-जमुना के प्रदेश में अपने उपनिवेश क़ायम करते हुए सबसे पहले इनकी स्थापना की। महाभारत के शान्ति-पर्व और मनुस्मृति में अनेक स्थानों पर ग्राम-संघों का ज़िक्र आता है। कौटिल्य के, जो ईसा के पहले चौथी सदी में जीवित थे, अर्थ-शास्त्र में भी इन ग्राम-संघों का वर्णन मिलता है। वाल्मीकि रामायण में जन-पदों का ज़िक्र है। यह शायद बहुत से ग्राम-राज्यों का संघ होगा। यह तो निश्चित है कि यूनानियों ने इस देश पर जब आक्रमण किया तब यह पद्धति इस देश में व्यापक रूप से प्रचलित थी। मेगस्थनीज इन पेंटाड़ों अर्थात् पंचायतों के बड़े विशय संस्मरण छोड़ गया है। चीनी-प्रवासी हुएन्सैंग और फाहियान लिखते हैं कि वे जब हिन्दुस्तान में आये थे, तब यह देश बड़ा खुशहाल था। लोग इतने सुखी और समृद्ध थे कि जिसकी तुलना नहीं मिल सकती। शुक्राचार्य के नीतिसार में सातवीं सदी के ग्रामीण-संघ का वर्णन मिलता है।

वास्तव में हिन्दुस्तान में ठेठ वैदिक काल से गांव शासन की इकाइयां रहे हैं। ऋग्वेद में (१०'६२।११;१०७'५) ग्रामणी अर्थात्

१ पोलिटिकल आइडियल्स—पृ० ४१

२ एकॉनॉमिक हिस्टरी ऑफ इंडिया—रमेशचन्द्र दत्त

ग्राम-नेता का ज़िक्र है। जातकों में भी ग्राम-सभाओं का वर्णन आया है। व्यापारियों के संघों को आमतौर पर श्रेणी कहा जाता था। वैदिक काल के बाद भी गांव संघ-जीवन की राजनैतिक इकाइयां रहे हैं। विष्णु-पुराण और मनुस्मृति में राज्य के सङ्गठन में गांव सबसे छोटी—प्राथमिक इकाई माने जाते थे।[1] धर्म-सूत्र और धर्म-शास्त्रों में गण और पूगों का बार-बार ज़िक्र आया है। शायद इन दोनों शब्दों को ग्राम या नगर-संस्थाओं के अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। स्थान-स्थान पर मिलने वाले अनेक प्राचीन शिलालेखों के रूप में पुरातत्व भी इन स्वशासित स्थानीय संस्थाओं के अस्तित्व का समर्थन करता है।

हिन्दुस्तान के ग्राम-राज्य हिन्दू, मुसलमान और पेशवा राजाओं के समय तक—अर्थात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन के पहले तक बराबर क़ायम थे। राजवंशों के विनाश और साम्राज्यों के पतनों का उनपर कोई असर नहीं हुआ। देश में जब-जब राजनैतिक तूफ़ान आते, तब राष्ट्र की संस्कृति के लिए स्थानीय स्वशासन की ये विकसित संस्थायें कछुए की ढाल का काम देती थीं, जहां वह शान्तिपूर्वक अपनी रक्षा कर लिया करती थी।[2] राजा लोग इन ग्राम-संस्थाओं से केवल ज़मीन का लगान मात्र ले लिया करते थे। स्थानीय शासन में वे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते थे। जैसा कि सर चार्ल्स ट्रेवलिंग ने कहा है "हिन्दुस्तान पर एक के बाद एक विदेशी आक्रमण हुए, पर ये ग्राम-संस्थायें कुश और तृण की भांति ज़मीन में अपनी जड़ें जमाये ही रहीं।" सर जॉर्ज बर्ड वुड ने कहा है, "हिन्दुस्तान में दूसरे किसी भी देश की अपेक्षा कहीं ज्यादा धार्मिक और राजनैतिक क्रान्तियां हुई हैं। परन्तु ये ग्राम-संस्थायें अपने पूरे जोर के साथ सारे देश में बराबर नगर-पालक का अपना काम करती रहीं। यहां पहाड़ों को लांघकर सीथियन, यूनानी, सारासेन, अफ़ग़ान और मुग़ल भी आये। मराठे भी सारे देश में फैल

१ कारपोरेट लाइफ इन एन्शियन्ट इंडिया—र० च० मजूमदार पृ० १४१
२ लोकल गवर्नमेंट इन एन्शियन्ट इंडिया—डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी पृ० १०

गये उधर समुद्र मार्ग से पुर्चगीज़, डच, अंग्रेज, फ्रेंच तथा डेन्स आये और इस देश पर उन्होंने अपने राज्य क़ायम किये। परन्तु जिस तरह समुद्र के ज्वारों का किनारे की चट्टानों पर कोई असर नहीं होता, उसी प्रकार इस देश की इन धार्मिक ग्राम-संस्थाओं पर इनके आने और जाने का कोई असर नहीं हुआ।[1] सन् १८३० में सर चार्ल्स मेटकाफ ने—जो उस समय हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल थे, अपनी प्रसिद्ध याद्दाश्त में लिखा है:—

"यहां की ग्राम-संस्थायें छोटे-छोटे जनतंत्र हैं। अपनी जरूरत की लगभग हर चीज़ उनके अपने पास होती है और बाहरी ताल्लुकात से वे प्रायः स्वतन्त्र होती हैं। और सब चीजें नष्ट हो जाती हैं पर वे क़ायम हैं। राजवंश एक के बाद एक गुज़र जाते हैं। क्रान्तियां आती हैं और चली जाती हैं। पर ग्राम-संस्थायें बराबर ज्यों-की-त्यों काम करती रहती हैं। ग्राम-संस्थाओं का यह संघ, जो कि खुद एक स्वतन्त्र-राज्य होता है, उन तमाम बड़ी-बड़ी क्रान्तियों, विप्लवों और उथल-पुथलों में हिन्दुस्तान की जनता की रक्षा तथा उन्हें सुखी रखने में एवं उनकी स्वतन्त्रता को बनाये रखने में सबसे बड़ा कारण रहा है, इसलिए मैं चाहता हूं कि इस ग्राम-शासन में जरा भी खलल न पहुंचाया जाय। और ऐसी हर चीज से मैं भय खाता हूं जिससे इनके टूटने का अन्देशा होता है।"[2]

पर दैव की इच्छा कुछ और ही थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अत्यधिक लोभों ने इन ग्राम पंचायतों को तोड़ दिया। लगान वसूली की इकाई पहले ग्राम थे। उनके स्थान पर जबरदस्ती और बुद्धि पूर्वक रैयतवारी पद्धति शुरू करने का असर इन ग्राम-संस्थाओं के जीवन पर बड़ा घातक सिद्ध हुआ। नौकरशाही ने तमाम बन्दोबस्ती और न्याय-प्रदान का काम का सीधे अपने हाथों पूरी तरह से ले लिया इस कारण गांव के अधिकारियों के हाथों में जो सत्ता और प्रभाव था वह छिन गया।

१ इंडस्ट्रियल आर्ट्स आफ इंडिया—पृ० ३२०

२ रिपोर्ट, सिलेक्ट कमिटी—आफ हाउस आफ कामंस (१८३२)

सर हेनरी मेन अपनी पुस्तक "विलेज कम्यूनिटीज इन दि ईस्ट एण्ड वेस्ट" में लिखते हैं कि हिन्दुस्तान की ग्राम-पंचायत एक मरी हुई नहीं बल्कि जिन्दा संस्था था। बेडन पॉवेल ने "इन्डिया-विलेज कम्यूनिटी" में भी इन ग्राम-संस्थाओं का विस्तृत वर्णन किया है। प्रोफेसर अलतेकर की "हिस्टरी ऑफ विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इण्डिया" में हमारे देश की इन ग्राम-संस्थाओं के कार्य-संचालन का बड़ा अच्छा चित्र है। परन्तु इस विषय का सबसे उत्तम विवेचन तो डा० राधाकुमुद मुकर्जी की 'लोकल गवर्नमेंट इन एन्शियन्ट इन्डिया और डॉ० राधाकमल मुकर्जी की 'डेमाक्रेसीज आफ दी ईस्ट' में किया गया है।

हिन्दुस्तान की इन ग्रामीण राज्य संस्थाओं के शासन संचालन वगैरा की तफसील में जाना इस पुस्तिका में संभव नहीं है। यहां तो इतना ही कह देना काफी होगा कि इस देश में अंग्रेजी राज की स्थापना के जो बुरे से बुरे परिणाम हुए हैं उनमें एक इन स्वशासन ग्राम-संस्थाओं का नष्ट किया जाना भी है। अंग्रेजों ने अपने ढंग की स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को खड़ी करने का यत्न भी जरूर किया है। परन्तु वह विदेशी है हिन्दुस्तानी पद्धति पर नहीं, इसीलिए वह बुरी तरह असफल हुए हैं। जैसा कि डा० एनी बीसेन्ट ने कहा है "अधिकारियों ने उसे नाम तो हिन्दुस्तानी ही दे रक्खा है, परंतु जहां पुरानी पंचायतों का चुनाव गांव के निवासी करते थे और उन्हींके प्रति ये पंचायतें ज़िम्मेवार भी रहती थीं, अब इन पंचायतों के अधिकारी सरकारी अफसरों के प्रति वहां अपने आपको ज़िम्मेवार समझते हैं और इसलिए पंच पहले की भांति गांव के लोगों को नहीं बल्कि इन अफसरों को खुश करने का प्रयत्न करते हैं।[२]

इन ग्राम-संस्थाओं में कुछ खामियां थीं। फिर भी सच्ची लोकशाही

१ डा बी० के० सरकार अपने 'पोलिटिकल इंस्टिट्यूशन्स एण्ड थियरीज' मे लिखते हैं कि ग्राम-संस्थाओं का नाम ग्राम पंचायत तो मध्य युग में पड़ा है।

२ इंडिया बॉण्ड ऑर फ्री—पृ० २६

और स्वशासन की दिशा में हिन्दुस्तान के ये ग्रामीण जनतंत्र बड़े आश्चर्य जनक प्रयोग थे। आजकल के ज़माने में संचालन में जो केन्द्रीकरण हो गया है उसने स्थानीय संघ-जीवन के विकास के लिए बहुत कम अवकाश छोड़ा है। इससे राजनीति सर्वत्र वन्ध्या और यन्त्रवत् जड़ बन गई है। फिर व्यक्ति और समाज अथवा शासन के हितों के बीच अनंत और निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। परन्तु हिन्दुस्तान की ग्राम-पंचायतों ने इन परस्पर विरोधी हितों का समन्वय कर लिया था और सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को उत्पादक एवं सफल बना दिया था। जैसा कि आचार्य बिनोवा भावे ने कहा है—इन ग्राम सभाओं में हर आदमी अपना राजा होता था, फिर भी वह अपने अन्य नागरिक भाइयों के साथ अटूट बन्धनों में बंधा रहता था।[1] एक तरफ जहां उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए पूरा अवकाश था, हर नागरिक उस छोटे से राज्य का एक ज़िम्मेवार और उपयोगी नागरिक था। हां, इन ग्राम-संस्थाओं में जिस प्रकार की विकेन्द्रित राजनैतिक सत्ता थी वह बेशक पश्चिम के विभक्तीकरण और विकेन्द्रीकरण से बिलकुल जुदे प्रकार की थी। हिन्दुस्तान के विकेन्द्रीकरण में कार्य और क्षेत्र दोनों का विभाजन था। फलस्वरूप उसमें सामाजिक हितों का सम्पूर्ण सामञ्जस्य और राजनैतिक जीवन में अन्तस्फूर्ति थी।

आधुनिक जनतन्त्री हुकूमतों में जो बहुत सी बुराइयां घुसी हुई हैं, उनसे हिन्दुस्तान की प्राचीन ग्राम संस्थायें प्रायः मुक्त थीं। उस समय आर्थिक-संगठनों का निर्माण भी शायद नहीं हुआ था। इसलिए रिश्वत और बेईमानी तो लगभग थी ही नहीं। आक्रमणशील पूंजीवाद का अभी जन्म भी नहीं हो पाया था। इसलिए कोई उन्हें अपनी जेब में नहीं रख सकते थे। मतदार-संघ छोटे-छोटे थे। अतः चुनाव सर्वानुमति से होते और सहज स्वाभाविक तौर पर लोग राय देते थे। जिन बुजुर्गों के प्रति समाज में सर्वत्र आदर होता, स्वभावतः वे ही चुने जाते। इसमें न तो

१ स्वराज्य शास्त्र (हिन्दी संस्करण) पृ० ४७

एक पाई खर्च करनी पड़ती और न चुनाव के लिए कोई प्रचार करना पड़ता। फिर प्रत्येक क्षेत्र स्वतन्त्र और स्वशासित था और सत्ता एक जगह केन्द्रित नहीं थी। काम की भीड़ भी ऐसी नहीं होती थी। इस प्रकार हिन्दुस्तान के पुराने जनतन्त्रों का शासन प्रत्यक्ष और सीधा होता था। उनमें कुव्वत और मर्दानगी होती और साथ ही वे विधायक, उत्पादक और अहिंसक भी होते थे। इसके विपरीत आज के मौजूदा जनतन्त्रों का ढांचा टेढ़ा-मेढ़ा, सुस्त, निषेधात्मक, अनुत्पादक और हिंसक है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अपनी स्वदेशी संस्थाओं को पुनः संजीवित करें और उन्हें भावी स्वराज्य के शासन-विधान का आधार बनावें। जैसा कि डॉ० राधाकमल मुकर्जी कहते हैं और ठीक कहते हैं—हिन्दुस्तानी पद्धति के विकेन्द्रित जनतन्त्र पश्चिम की राजनैतिक पद्धतियों की नकलों की अपेक्षा न केवल अधिक मुआफिक और जीवनदायी होंगे बल्कि मनुष्य जाति के राजनैतिक इतिहास में, जो कि पश्चिम की आक्रमणशील हुकूमतों और साम्राज्यवादी सत्ताओं के उलझन भरे विचित्र कारनामों से भरा पड़ा है, पूर्व की ओर से एक नई देन के रूप में होंगे।

डॉ० मुकर्जी आगे लिखते हैं—

"वह एक नये प्रकार की शासन-पद्धति के लिए बुनियाद का काम देंगे। रोमन-ट्यूटोनिक ढंग के केन्द्रीकरण-प्रधान शासन-विधान की अपेक्षा छोटे-छोटे क्षेत्रों में विविध काम करनेवाली विभिन्न संस्थाओं की प्रवृत्तियों का समन्वय करके यह पद्धति भावी शासन-विधान का ढांचा पार्लामेंटरी विधान की अपेक्षा भी अधिक सन्तोषजनक ढंग से बना सकेगी। और अगर एशिया-वासियों की बौद्धिक और नैतिक एकता इसी तरह कायम रही तो पूर्व एशिया के जातीय और समन्वय पद्धति पर काम करनेवाली बुद्धि द्वारा बनाई रचनायें सामाजिक और राजनैतिक प्रयोगों के इस क्षेत्र के लिए नई, बेश कीमती एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करेंगी। आज तो सारी मनुष्य-जाति यन्त्र के समान जड़ एवं शोषण-प्रधान राजसंस्था की हुकूमत के मातहत संस्थागत (अनुशासन

की) जड़ता (ग्राक्षायदगी) में कैद पड़ी है। अतः आज अगर सबसे अधिक किसी वस्तु की ज़रूरत है तो इस बात की कि समाज के लिए शासन-विधान का कोई नया सिद्धान्त हो, जो मनुष्य में नया चैतन्य उत्पन्न करके, उसे स्वाभाविक और लचीले दलों से सम्बन्धित कर दे ताकि वह अपनी देनों और सहज बुद्धि को आजादी के साथ प्रकट और विकसित कर सके।"[1]

विकेन्द्रीकरण का अर्थशास्त्र

ग्रामीण साम्यवाद में जो बहुतसी अच्छाइयां छिपी पड़ी हैं, उनके अलावा विकेन्द्रित ग्रामीण संघ-राज्यों का संगठन संपत्ति के न्यायपूर्ण बंटवारे में अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा। आज के पूंजीवादी समाज में उत्पादन के साधनों पर मालदारों का अधिकार रहता है। अतः यह समाज संसार में स्थायी शान्ति एवं सच्ची समृद्धि को लाने में असफल ही रहा है। दूसरी तरफ समाजवाद ने इस मालदार वर्ग को निर्दयता के साथ जड़ से उखाड़कर फेंक दिया है। बेशक उसने जनता की रहन-सहन को ऊंचा उठाकर बेहतर कर दिया है। परन्तु फिर भी सोवियट कम्यूनिज्म एकदम विशुद्ध भलाई नहीं है। उसने संयोजन के महान और शक्ति-शाली यन्त्र के द्वारा व्यक्तियों को न्यूनाधिक परिमाण में शून्यवत् तथा जानदार यन्त्रों की श्रेणी में लाकर छोड़ दिया है। इसके अलावा रूस ने अब पास पड़ौस के देशों पर भी अपने पर फैलाना शुरू कर दिया है। उसका उद्देश चाहे कितना ही उच्च हो, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस के इन कार्यों को कोई निःशंक भाव से नहीं देख सकता। साम्राज्य-वाद चाहे वह पूंजीवादी हो या समाजवादी—हम उसे बरदाश्त नहीं कर सकते। समाजवाद जब बड़े पैमाने पर और केन्द्रीकरण वाला होता है तो उसमें आक्रमण की वृत्ति अर्थात् साम्राज्यवाद आ ही जाता है। इसलिए वह संसार में ऐसा नया युग नहीं ला सकता जिसके अन्दर छोटे-बड़े सभी देशों के लिए शान्ति, कल्याण और स्वतन्त्रता का निश्चित आश्वासन हो।

[1] डेमाक्रसीज आफ दी ईस्ट—पृ० २५-२६

तब हमारी समस्या का हल क्या होगा ? विकेन्द्रित गृह-उद्योग की पद्धति में यह हल छिपा हुआ है। हिन्दुस्तान की ग्राम-संस्थाओं में एक अत्यन्त संतुलित आर्थिक पद्धति का विकास हम देखते हैं। एक तरफ सत्ता का सम्पूर्ण केन्द्रीकरण और दूसरी तरफ—किसी प्रकार भी हस्तक्षेप न करना—इन दोनों सिरों को उसमें छोड़ दिया गया है। अनेक और गम्भीर प्रयोगों के बाद पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच का सुन्दर मध्यम-मार्ग उन्होंने ढूंढ लिया था। उन्होंने सहकारी उद्योग और सहकारी खेती का एक आदर्श तरीक़ा ढूँढ लिया था जिसमें अमीरों द्वारा ग़रीबों के शोषण की शायद ही कहीं गुञ्जाइश हो। जैसा कि गांधीजी ने कहा है—वितरण और उपयोग के क़रीब-क़रीब साथ-साथ ही उत्पादन होता था। झोंपड़ों और घरेलू कारखानों में चीजें बनतीं और वे किसी दूर के बाजार के लिए नहीं बल्कि स्थानीय जरूरतों की तत्काल पूर्ति के लिए होती थीं। स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर जब चीजें छोटे पैमाने पर अपने-अपने क्षेत्रों में ही बन जातीं तो उसमें पूंजीवादी शोषण के लिए कहीं स्थान ही नहीं रहता था। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को निर्दयता के साथ बग़ैर दबाये और साथ ही मुट्ठी भर आदमियों को दूसरों पर अपनी हुकूमत स्थापित करने का बग़ैर मौक़ा दिये इस पद्धति से अपने आप आर्थिक समानता की स्थापना हो जाती थी। कहने की ज़रूरत नहीं कि गांधीजी के सिद्धान्तों के अनुसार इन गृहोद्योगों का संगठन पूंजीवादी पद्धति पर नहीं, बल्कि सहकार की पद्धति पर ही हो सकता है। क्योंकि जापान की भांति इन गृहोद्योगों पर अगर पूंजीपतियों का नियन्त्रण होगा, तो देहात के कारीगर भी निरे मज़दूर बना दिये जावेंगे और उनका शोषण होता रहेगा।

प्राचीन ग्राम-संस्थाओं में कुछ दोष भी थे। उदाहरणार्थ जाति-भेद की कठोर दुखदायी प्रथा को ही लीजिए, जिसने समाज में अनुचित भेद-भाव खड़े कर दिये। पुराने ज़माने में भी कुछ धनवान सेठ थे। इन ग्राम-संस्थाओं के बीच आर्थिक एवं राजनैतिक विषयों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध और सामञ्जस्य नहीं था। उनकी रहन-सहन भी शायद इतनी

ऊंची नहीं थी जो हमें आकर्षित कर सके। फिर भी ये ग्रामीण जनतंत्र हमारे परिपक्व विचार और चिंतन के परिणाम थे और उनमें आर्थिक संगठन के वे तत्त्व मौजूद हैं, जिनको अगर ठीक तरह से बुन दिया जाय तो आज इस युद्ध पीड़ित संसार में जो अनंत समस्यायें हमें दिन-रात परेशान कर रही हैं उनसे वे हमें राहत दिला सकते हैं।

विकेन्द्रीकरण का यह अर्थशास्त्र हमें अत्यधिक यन्त्रीकरण की बुराइयों से भी बचा सकता है। कार्ल मार्क्स खुद कहता है कि यंत्रों के व्यापक उपयोग और श्रम-विभाग के कारण काम के अंदर से मजदूरों के व्यक्ति का महत्त्व तो संपूर्णतया गायब हो गया है। और इसलिए मजदूर के दिल के अन्दर से काम का आकर्षण भी चला गया। वह तो यंत्र का एक पुर्जा मात्र रह गया है।[1] ......आज यंत्रों से उत्पादन करने की इस पद्धति में मनुष्य एक तरफ पंगु और दूसरी तरफ राक्षस बन गया है।" दूसरी तरफ "एक स्वतंत्र किसान या कारीगर अपने ज्ञान, बुद्धि और इच्छा का विकास कर सकता है।"[2] यंत्रों की सहायता से बड़े पैमाने पर किये गये उत्पादन में क्या-क्या ख़राबियाँ हैं इनका पता कार्ल मार्क्स को था। पर उसे आशा थी कि समाजवादी शासन में ये बुराइयां नहीं रह पाएंगी। परन्तु जान-बूझकर दाखिल किया गया यंत्रवाद, चाहे वह पूंजीवादी समाज में हो या समाजवादी समाज में, मनुष्य के शरीर, बुद्धि और नैतिक जीवन पर बुरा असर डाले बग़ैर रही कैसे सकता है? प्रो० बारसोड़ी लिखते हैं कि उत्पादन के और वितरण के साधनों पर से व्यक्तियों का स्वामित्व उठा देने से शोषण तो मिट गया; पर इतने भर से बुराई की जड़ तो नहीं हटी। कारखानों की पद्धति में खुद कुछ ऐसी बुराइयां हैं, जो कभी हट नहीं सकतीं। वे तो समाज को तकलीफ देती ही रहेंगी।[3] इसीलिए गांधीजी आधुनिक उद्योगीकरण के ख़िलाफ़

१ 'दी कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो'।

२ 'डास केपिटल'।

३ 'दिस अगली सिविलिजेशन'।

है। पर इस पर से यह ख़याल करना ग़लत होगा कि वह यंत्र मात्र के विरोधी हैं। वह तो यंत्रों के अत्यधिक और अविचारपूर्ण विस्तार-प्रचार के विरोधी है। वह लिखते हैं:—

"जहां काम करनेवाले आदमियों की कमी हो वहां यंत्रों से काम लेना अच्छा है। परंतु जहां भारत की तरह काम करने के लिए आवश्यकता से अधिक आदमी हों, वहां हर काम यंत्र से लेना बुरा है।"[1]

आज यंत्रों ने मनुष्यों को शून्य या अपने ही समान पर जानदार यंत्र बना दिया है। बड़े-बड़े कारखानों में जहां राक्षसी यंत्र दिन-रात शोर मचाते हुए चलते रहते हैं मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। पर यंत्र अगर छोटे-छोटे हों और वे लाखों करोड़ों किसानों और कारीगरों के श्रम को हलका कर सकते हों और अच्छी तरह से काम कर उनका फायदा कर सकते हों तो गांधीजी उनका निःसंदेह स्वागत ही करेंगे।

बेकारी को दूर करने की दृष्टि से भी गृहोद्योगों का बढ़ाना अत्यन्त लाभदायक है। आज पश्चिम के आर्थिक संयोजन का सब से ताज़ा नारा है—"सबको काम दो।" पर क्या यंत्रों की सहायता से बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से सबको काम मिल भी सकता है? संयुक्त राज्य और संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) जैसे देशों में खूब यंत्रों का प्रचार है। परंतु फिर भी वहां लाखों आदमी बेकार हैं। उन्हें काम नहीं दे पाये हैं। तब क्या हम चालीस करोड़ आबादीवाले यह उम्मीद कर सकते हैं कि यहां की बेकारी की समस्या को हम हल कर सकेंगे? इस समय देश में जितने बड़े-बड़े भारी भरकम कारखाने और मिलें हैं उनमें सब मिलाकर कुल बीस लाख मनुष्य काम करते हैं। बम्बई-योजना के अनुसार अगर भारी-भारी कारखानों को प्रोत्साहन देकर, मान लीजिए, उनकी संख्या पांच गुनी हो गई तो भी एक करोड़ आदमियों से अधिक को हम काम नहीं दे सकेंगे। फिर औरों का क्या होगा? हिन्दुस्तान में खुद किसान के पास भी तो काफी काम नहीं होता। अपनी नाकाफी आमदनी को बढ़ाने के लिए

[1] हरिजन—१६-११-१९३४

खुद उसे किसी सहायक उद्योग की ज़बरदस्त ज़रूरत है। इसलिए हमारी समस्या का सब से अच्छा हल तो यही है कि ग्रहोद्योगों को खूब बढ़ाया जाय। थोड़े से कारखानों में ढेरों माल पैदा किया जाय इसके बजाय ज़रूरत इस बात की है कि हिन्दुस्तान के असंख्य गांवों की जनता सुसंगठितरूप से उत्पादन करें। हां, आधुनिक आर्थिक संयोजन की सफलता के लिए कुछ भारी-भारी और देश के प्राणरूप कारखानों की अवश्य जरूरत होगी। परन्तु गांधीजी की यह निश्चित राय है कि इन कारखानों पर देश—राज्य—का ही स्वामित्व और संचालन होगा।

कोई यह आशंका न करे कि हमारे ये गृहोद्योग आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं होंगे। हमारे ज़माने का एक सब से बड़ा उद्योग-पति हेनरी फोर्ड कहता है—आम तौर पर एक बहुत बड़ा यन्त्र हमेशा फायदेमन्द नहीं होता।[1] इसलिए पैदावार की विधियों को केन्द्रित करने से कोई लाभ नहीं। हेनरी फोर्ड कहता है कि "जो चीज़ सारे देश में बरती जाती है वह सारे देश में बनाई भी जानी चाहिए" इससे उसका लानेले जाने का खर्च घट जावेगा और जनता की क्रय-शक्ति समानरूप से सर्वत्र बढ़ती रहेगी। अब फोर्ड का अगला आदर्श यह है कि उद्योगों को पूरी तरह से जगह-जगह बांट दिया जाय। इस पद्धति में यन्त्र छोटे-छोटे होंगे और उनको ऐसी जगह रक्खा जायगा कि उनमें काम करनेवाले किसान भी होंगे और साथ-साथ उद्योगपति भी। इससे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता तो आमतौर पर बढ़ेगी ही पर इसके साथ-साथ चीज़ें और खाने-पीने की सामग्री भी सस्ती हो जायगी।[2] लेविज ममफोर्ड का भी यही राय है कि छोटे-छोटे कारखाने जिनसे तरह-तरह को चीज़ें बनाई जा सकती हैं और जिन्हें अनेक कामों में लिया जा सकता है, आर्थिक दृष्टि से बड़े कारखानों की अपेक्षा अधिक लाभदायक होंगे।[3] आजकल के ज़माने में जब कि

१ टुडे एण्ड टुमारो—पृ० १०६

२ मूविंग फारवर्ड—पृ० १५७

३ दि कल्चर आफ सिटीज—पृ० ३४२

नदियों के प्रवाहों को रोक कर काफ़ी बिजली पैदा की जा सकती है, बड़े-बड़े शहरों में राक्षसी कारखानों की संख्या बढ़ाने की ज़रा भी ज़रूरत नहीं।

समाज के इस पूंजीवादी संगठन ने और उसके केन्द्रित तथा अत्यधिक उत्पादन ने संसार को कितनी बार खूनी और बरबादी फैलानेवाले युद्धों में झोंक दिया है। क्या बड़े पैमाने पर होनेवाले केन्द्रित उत्पादन के परिणामों और क़ीमत में धन और जन की इस दुखदाई हानि को शरीक करना अनुचित होगा? सचमुच यह प्रत्यक्ष बरबादी इतनी ज़बरदस्त है कि हम यन्त्रों के द्वारा केन्द्रित रूप से बड़े पैमाने पर किये जानेवाले उत्पादन को किसी प्रकार आर्थिक दृष्टि से भी लाभदायक नहीं कह सकते। खैर।

'गान्धीवादी योजना' में खूब विस्तार से विकेन्द्रीकरण के अर्थशास्त्र की मैंने चर्चा की है इसलिए इस पुस्तिका में उसका अधिक विस्तार करना उचित नहीं होगा।

विकेन्द्रीकरण का दर्शन

खूब समझ लेने की बात है कि विकेन्द्रीकरण की हिमायत गांधीजी क्यों करते हैं? केवल इसलिए नहीं कि उससे राजनैतिक और आर्थिक लाभ है। नहीं। वह तो उनके सामने सादा जीवन और उच्च विचार का सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आदर्श उपस्थित कर देता है। वह कहते हैं हमारा मन बड़ा असन्तोषी है। एक चीज़ मिली नहीं, कि दूसरी की चाह वहां तैयार है। इस तरह उसकी तृष्णा बढ़ती ही रहती है। अपने विकारों की तृप्ति का हम ज्यों-ज्यों प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों वे बेलगाम होते जाते हैं। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने भोग का संयम करने का आदेश दिया। उन्होंने देखा कि सुख का सम्बन्ध खास तौर पर मन से है। और सच्चा सुख और स्वास्थ्य अपने हाथ पैरों से सही-सही प्रकार का काम लेने से ही मिल सकता है।[1] इसलिए गांधीजी सांस्कृतिक और नैतिक दृष्टि से

[1] हिन्द स्वराज्य—पृ० ८७-८८

भी सादगी को आवश्यक मानते हैं। विख्यात विज्ञान-शास्त्री आइन्स्टिन की भी यही राय है—

"सम्पत्ति, बाहरी सफलता, प्रचार, ऐशो-आराम ये सब मेरे नजदीक घृणा की वस्तुएं रही हैं। मेरा विश्वास है कि सादा और निश्छल जीवन हर आदमी के शरीर और मन दोनों के लिए सबसे अधिक लाभदायक होता है।'[1]

पर सदगी के मानी यह नहीं कि हर आदमी स्वेच्छापूर्वक ग़रीबी का अंगीकार करे और लंगोटी पहनकर रहे। गाधीजी की 'जरूरतों' और कम-से-कम सुख-सुविधा का पैमाना काफ़ी ऊचा है। पर हां, उनके "अच्छे जीवन" में ऐश के लिए गुञ्जाइश नहीं है। उन्हें रहन-सहन का नहीं "प्रत्यक्ष जीवन का" पैमाना ऊंचा करने का सबसे अधिक ध्यान रहता है।

सादगी के साथ-साथ चांदी-सोने की अपेक्षा मानवी मूल्यों का विचार भी वह करते हैं। उन्हें तो सब से अधिक ख़याल मानवता का है। अथवा जैसा कि प्रोटोगोरस ने कहा था—"वही सबका मानदण्ड है।" सिक्कों की अपेक्षा उनके अर्थशास्त्र का आधार प्रत्यक्ष जीवन है। खादी और ग्रामोद्योगों की हलचलों के पोछे देश की सामाजिक और आर्थिक पुनर्रचना में मनुष्य-जीवन को सर्व प्रधान स्थान देने का यह ख़याल वैचारिक पृष्ठ-भूमि के रूप में सदा उनके दिमाग़ में रहता है। "खादी-भावना का अर्थ है पृथ्वीतल के प्रत्येक मनुष्य के साथ बन्धुभाव।"[2] हिन्दुस्तान की पुरानी ग्राम-संस्थाओं की सहकार-भावना की जड़ में यही नैतिक तत्त्व था। आज के दुनियादार के लिए तो सोने से बड़ा ईश्वर संसार में कोई है ही नहीं। पर गांधीजी तो 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' (अर्थात् आत्मा को छोड़कर तो समस्त पृथ्वी तल की संपत्ति की परवा न करो) की सलाह देनेवालों में से हैं। जिस विकेन्द्रीकरण के दर्शन का प्रतिपादन गांधीजी करते हैं, उसमें दूसरी बुनियादी कल्पना शरीर-श्रम

१ **'आई बिलीव'**—पृ० ७०

२ **यंग इण्डिया**—२२-६-२७

का पावित्र्य है। "यह सबसे बड़े दुर्दैव की बात है कि करोड़ों लोगों ने अपने हाथों का हाथों की तरह उपयोग करना छोड़ दिया है।"[१] "हमारा शरीर एक जीता जागता अप्रतिम यन्त्र है। उसके स्थान पर निर्जीव यन्त्रों से काम लेकर हम उसे निकम्मा बना रहे हैं और जान बूझ कर नष्ट कर रहे हैं।"[२] गांधीजी की दृष्टि से शरीर-श्रम प्रत्यक्ष जीवन है। वह अभिशाप नहीं, वरदान है।

ज़रा सोचिए तो आप देखेंगे कि सादगी, मानव-जीवन का ख़याल और शरीर-श्रम की पवित्रता वाले आदर्शों की जड़ में अहिंसा है। और यही गांधीवाद का मुख्य आधार है। वह कहते हैं—"अहिंसा पर आधारित जीवन की जब मैं कल्पना करने लगा तो मैंने देखा कि हमें उच्च विचार का ध्यान रखते हुए उसे जितना भी संभव हो सादा बना देना चाहिए। अहिंसा के आधार पर बनाया हुआ समाज गांवों में रहेगा। उसके छोटे छोटे दल होंगे, जिनका जीवन शान्त और सम्मानपूर्ण होगा और वे स्वेच्छा पूर्वक पारस्परिक सहयोग से रहेंगे। ....अहिंसा पर आधारित ऐसी सभ्यता के निकटतम जीवन की कल्पना हिन्दुस्तान के पुराने ग्रामीण गणराज्य हमें देते हैं। मैं मानता हूं कि उसमें संशोधन की गुंजाइश है। मैं यह भी जानता हूं कि अहिंसा की जो कल्पना और परिभाषा मेरे दिमाग में है, वह उसमें नहीं थी। पर उसमें इसके बीज ज़रूर थे।"[३] इसलिए गांधीजी ग्रामों पर आधारित सभ्यता पर इतना अधिक ज़ोर देते हैं। "ग्राम-सभ्यता की जो कल्पना मेरे दिमाग़ में है उसमें शोषण का नामोनिशान नहीं। और यही (शोषण) तो हिंसा की जड़ है।"[४]

गांधीजी के विचार में "सबसे बड़ी शक्ति अहिंसा" है। वही "जीवन का सर्वश्रेष्ठ धर्म है"। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण के आधार पर पृथ्वी टिकी हुई है, उसी प्रकार सारे मानव-समाज का व्यवहार अहिंसा

१ 'यंग इण्डिया' १७-२-२७, २ 'यंग इण्डिया' १८-१-२५
३ 'हरिजन' १३-१-४०, ४ 'हरिजन' ११-२-३६

पर चल रहा है।[1] अथवा जैसा कि टी० एच० ग्रीन ने कहा है—"राज्य का आधार 'बल' नहीं 'इच्छा' है।[2] हिंसा की व्यर्थता को पिछले दो सांसारिक महायुद्धों ने पूरी तरह प्रकट कर दिया है। और जैसा कि हाल ही में राष्ट्रपति ट्रूमन ने कहा है अब तीसरे महायुद्ध के बाद सभ्यता जिन्दा नहीं बचनेवाली है। विज्ञान की अत्यधिक प्रगति ने संसार को अब ऐसे ही मुक़ाम पर लाकर खड़ा कर दिया है। आज संसार के सामने प्रश्न हिंसा और अहिंसा के बीच चुनाव का नहीं, बल्कि हिंसा और विज्ञान के बीच चुनाव का है। हम दोनों को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकते। परमाणु बम इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हिंसाभिमुख विज्ञान का वह तर्क-संगत परिणाम है। यह भी अफ़वाह है कि अमेरिका ने एक और ऐसे बम का आविष्कार किया है, जिसके मुक़ाबले में वर्तमान परमाणु बम केवल आतिशबाज़ी-सा है।[3] इसलिए सभ्यता और मनुष्य-जीवन के नाम पर अब हमारे सामने सिवा इसके कोई रास्ता नहीं रह गया है कि संसार 'हिंसा' को नमस्कार कर ले। परमाणु बम से संसार को नष्ट करने के बजाय अब हमें एक परमाणु के अन्दर समस्त विश्व का दर्शन करने का यत्न करना चाहिए। अगर यह दृष्टि हम ग्रहण नहीं करेंगे, तो संसार का विनाश निश्चित है।

समाज-विज्ञान का दृष्टिकोण

समाज-विज्ञान की दृष्टि से भी विकेन्द्रित ग्रामीण-समाज की रचना की जरूरत है। आजकल के शहर अत्यधिक घने हो गये हैं। राष्ट्र के स्वास्थ्य और स्वच्छता की दृष्टि से भी स्वास्थ्यप्रद ग्रामीण जीवन की

१ हरिजन ४-१-३६

२ 'प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल आब्लीगेशन्स'।

३ सोवियट रूस के वैज्ञानिक भारत के उत्तर में "पामीर" प्रदेश की प्रयोग शालाओं में एक ऐसी किरण के आविष्कार के नजदीक पहुंच रहे हैं जो परमाणु बम से कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण और उसका जवाब है।

तरफ हमें झुकना चाहिए। शहरी जीवन के शोर और जल्दबाज़ी का हमारी स्नायु प्रणाली पर भी धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से बहुत बुरा असर पड़ता है और शरीर तथा मन दोनों को ये हानि पहुंचा रहे हैं। फलतः समाज निष्प्राण और यन्त्रवत् जड़ हो रहा है। ग्रामों, खेतों, घरेलू कारखानों और दूकानों का शान्त और स्वास्थ्यप्रद श्रम हमारे समाज में निःसन्देह आनन्द और उत्साह को बढ़ानेवाला होगा।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य के विचार के अलावा संसार में मनुष्य जाति की रक्षा की दृष्टि से भी ग्रामों की तरफ प्रयाण करने की हलचल को चलाने की ज़रूरत है। पश्चिम के कितने ही उद्योग-प्रधान देशों की आबादी लगातार घटती जा रही है। माल्थस को जहां-तहां बढ़ती हुई आबादी का भूत दिखाई दे रहा था। आज प्राणी-विज्ञान के ज्ञाताओं के सामने इसके विपरीत यह समस्या है कि संसार में मनुष्यों की आबादी घट रही है और मनुष्य-जाति के शरीर का बल-गुण आदि सब तरह से ह्रास हो रहा है। समाज विज्ञान का यह तत्त्व तो हर कोई जानता है कि शहर की अपेक्षा ग्रामीण समाज में प्रजोत्पादन की शक्ति अधिक होती है। जैसा कि प्रो० लान्सलॉट हॉग्बन बताते हैं, शहरों में प्रजोत्पादक शक्ति की कमी का कारण अत्यधिक घनी आबादी तथा दिल बहलाव के दूसरे साधन हैं, जो पितृत्व की इच्छा की पूर्ति से मनुष्य को दूसरी तरफ खींच के ले जाते हैं। फिर अनेक ऐसे सामाजिक परिवर्तन भी हो गये हैं कि जिनके कारण पारिवारिक जीवन की स्थिरता पर विपरीत असर पड़ा है। जीवन में यन्त्रों ने इतना बड़ा स्थान घेर लिया है कि प्रत्यक्ष जीवन भी यन्त्रवत हो गया है। यन्त्र में न तो निर्माण करने की शक्ति है और न जन्म देने की। अतः शहरों में वही मानवी सम्बन्धों का नमूना बन गया है।[1] इसके विपरीत ग्रामों में बच्चे प्राणी और पौदों में नवजीवन का नित्य दर्शन करते हैं। ये उनके लिए स्वाभाविक घटनायें होती हैं। शहरी-जीवन पूंजीवादी समाज की ही विशेषता नहीं है। बहुत जल्दी 'मनुष्य जीवन

१ व्हाट इज एण्ड आफ अस—पृ० १८४

की रक्षा' के लिए कोई ऐसी ही ग्रामीण जीवन की योजना समाजवादी तन्त्रों को भी बनानी होगी।

समाज की रक्षा तथा सामाजिक शान्ति और सद्भाव की दृष्टि से भी ग्रामीण गण-राज्य की पद्धति लाभदायक होगी। पुराने ज़माने के लोग अपने-अपने गांवों को एक बड़ा सम्मिलित परिवार मानते थे। एक आदमी पर कोई दुख आता तो उसके दुख से सारा गांव दुखी होता था। अगर किसी के यहां चोरी होती तो गांव के शेष लोग उसकी क्षतिपूर्ति कर देते थे। अगर किसी का मकान जल जाता तो गांव के लोग मिलकर मकान बनाने के साधन जुटाकर उसके लिए नया मकान खड़ा कर देते। अगर किसी परिवार का मुखिया मर जाता तो उसके बाल-बच्चों की देख-भाल सारे गांव के लोग करने लग जाते। एक के यहां मरण या शादी होती तो यह सारे गांव के दुख-सुख का प्रसंग बन जाता। श्रम-विभाग और भिन्न-भिन्न पेशों के कारण बेकारी का नामोनिशान न था। यह सच है कि छोटे-मोटे लड़ाई झगड़े भी हो जाते, पर वह तो इस बात का निदर्शक था कि ग्रामों की शान्ति श्मशान-शान्ति नहीं थी।

जीवन का आनन्द

ग्रामीण जीवन के पुनरुद्धार से समाज में पुनः आनन्द, उत्साह और उल्लास का प्रवेश हो जावेगा। "प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन" (कारपोरेट लाइफ इन एन्शियन्ट इण्डिया) नामक अपनी किताब में डा० मजूमदार ने अति प्राचीन काल से भारत के गांवों में दिल बहलाव के साधनों का वर्णन किया है। वैदिक काल में गांवों में क्लब-घर होते थे, जिनको आगे चलकर ग्राम-गोष्ठी कहा जाने लगा था। अपने दिन भर के काम-काज के बाद गांव के लोग किसी जगह एकत्र होते। वहां नाच, गान, कहानियां और प्रतिदिन की घटनाओं पर तरह-तरह की चर्चाएं होतीं। मौर्यकाल तक त्यौहार के दिनों में गांवों में इस तरह की मण्डलियां होती थीं। ग्रामीण-जीवन के दूसरे क्षेत्रों की भांति इनमें भी ग्रामीणों में वही सहयोग और भाई-भाई का-सा भाव होता था। इन

सार्वजनिक उत्सव-कार्यों से दूर रहना समाज के प्रति पाप समझा जाता। आज भी गांवों में यही मान्यता है। आज भी गांवों में मेले लगते हैं, नाच, नाटक, कुश्तियां और भजन-कीर्तन भी होते हैं और लोग आनन्द मनाते रहते हैं।

आनन्द के इन सीधे-सादे ग्रामीण तरीकों और ईमानदारी भरे कठोर शरीर श्रम के विपरीत घने शहरों में ग्रामोफोन, सिनेमा और रेडियो जैसे मनोरंजन के यान्त्रिक साधन होते हैं। शहर का आदमी अपने शरीर की हलचलों को यन्त्र की गति के साथ मिलाने की कोशिश करता है और उसका जीवन नीरस तथा निरानन्द हो जाता है। फुरसत मिली कि उन्हीं यान्त्रिक खेल-तमाशों की तरफ उसे दौड़ना पड़ता है। फलतः उसका दिल यन्त्र की तरह जड़ और निष्प्राण हो जाता है। विचार भी वैसे ही टकसाली बन जाते हैं। वह जीवन का प्याला पीने दौड़ता है और मृत्यु का प्याला पी जाता है।

कला और सौंदर्य

आजकल के शहराती लोग अपनी कला और सुन्दरता पर गर्व करते हैं। पर उनकी 'फूल-दानी' सभ्यता केवल टकसाली और बासी सौंदर्य को ही जुटा सकती है। उसमें जीवन का सौंदर्य और गहराई नहीं होती। महाराजा सुवर्णसिंहजी के दरबार में तो कला और सौंदर्य का मूल्य भी सिक्कों से होता है। वहां मोर-पंख के मुकुट या वनमालाओं के लिए कोई आकर्षण नहीं है। सहज प्राकृतिक सौंदर्य के मुकाबिले में आजकल के शहरों की शोभा को जो गगन-चुम्बी बड़ी बड़ी इमारतें बढ़ाती रहती हैं, वे घने कबूतरखानों की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं हैं। वहां गांवों के लोग अपने सीधे-सादे झोंपड़ों और खुली हवा में अपना जीवन बिताते हैं। मैं तो इन आज के गांवों की बात कह रहा हूं जो कि प्राचीनकाल के अवशेष मात्र हैं। वहां लोग प्रकृति की प्रत्यक्ष गोद में रहते हैं। गांव के कारीगर एक बड़े नैतिक सिद्धांत—समाज की सेवा—को लेकर काम पर आते हैं और अपने काम में उन्हें पूरा आनन्द भी मिलता है। "परिणाम

स्वरूप वे बड़ी-बड़ी और सुन्दर चीजें बना जाते हैं, और काम करते-करते वे गाते रहते हैं।'[1] उनकी औरतें भी सबेरे उठकर चक्की चलाते हुए गाती रहती हैं। सर पर सुन्दर चमकीले तांबे-पीतल के घड़े रख कर पनघट पर जाते हुए वे प्रायः आनन्द से नाचती जाती हैं। दीवालों पर बनाये गये उनके चित्रों की स्वाभाविक सुन्दरता, उनके जीवनदायी जोरदार काव्य और गीत, उनके नाच और नाटकों की वास्तविक कला और उनकी विविध दस्तकारियों में भरा अनोखा सौंदर्य तथाकथित सभ्य-कला और साहित्य में ढूंढ़े नहीं मिलेगा।

भारत जैसे प्राचीन देश में कला और संस्कृति का प्रवाह जंगलों, झोंपड़ों और गांवों से ही शहरों की तरफ गया है। गम्भीर चिंतन और भावनाओं का स्रोत तो उन ऋषियों के हृदयों से निकला है, जो ग्रामीण वातावरण में मौन-पूर्वक अपना शान्त जीवन व्यतीत करते थे। रामायण और महाभारत जैसे महान् और अमर काव्य-ग्रन्थ विश्व-विद्यालयों के अध्यापकों और विद्वान कवियों के द्वारा नहीं रचे गये हैं। अजन्ता के अमर चित्र भी किसी आर्ट-गैलरी के डायरेक्टर द्वारा नहीं बनाये गये हैं। सर्जन के आनन्द में भूले हुए इन कलाकार सन्तों ने आनेवाली पुश्तों की जानकारी के लिए भी अपने नाम तक छोड़ जाने की पर्वाह नहीं की। 'कला के लिए कला' या 'जीवन के लिए कला' जैसे सिद्धान्तों पर उन्होंने बहस नहीं की। उनके लिए तो जीवन ही सबसे बड़ी कला थी।

राष्ट्र-रक्षा

बाहरी आक्रमणों से सफलता पूर्वक रक्षा के लिए विकेन्द्रीकरण और ग्रामीकरण अत्यन्त आवश्यक हैं, क्योंकि आधुनिक युद्ध-कला का प्रतिकार उसीसे हो सकता है। जहाँ-जहाँ कारख़ाने होते हैं, हवाई जहाजों के द्वारा वहां बम गिराने में बड़ी आसानी होती है। और इस तरह गिराये गये कुछ बम बड़ी सफलता पूर्वक देश की सारी अर्थ-व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा कर सकते हैं। इस प्रकार युद्ध-कला की दृष्टि से देखें तो भी

१ कोआपरेटिव डेमोक्रेसी--जे० बी० वारबसे—पृ० ४

जिस देश में बड़े-बड़े कारखाने कुछ शहरों में केन्द्रित कर दिये जाते हैं, बाहरी आक्रमणों के लिए वे अत्यन्त अरक्षित रहते हैं। चीन जो इतने वर्षों जापानी आक्रमणों का मुक़ाबला कर सका उसका एक मुख्य कारण शायद उसकी सहकारी उद्योग-पद्धति है। इस हलचल ने देश के कोने-कोने में गृहोद्योगों का जाल फैलाकर जीवन की आवश्यक वस्तुओं के बारे में प्रायः तमाम चीनी ग्रामों को स्वावलम्बी बना दिया है। इसलिए सौभाग्य से कहिये या दुर्भाग्य से, लश्करशाही की दृष्टि से भी ग्रामीकरण अत्यन्त आवश्यक होगया है। अतः आज के संसार में जबकि बार-बार लम्बी और भयंकर लड़ाइयां छिड़ने लग गई हैं, यह व्यवस्था करना बहुत ज़रूरी हो गया है कि खान-पान व पहनने के कपड़े जैसी दैनिक जरूरत की चीजें, जहां तक संभव हो, हर स्थान में बन जाया करें, क्योंकि बाहरी या दूर के बाज़ारों पर इन चीज़ों के लिए निर्भर रहने से जनता को बहुत कष्टों का सामना करने की नौबत आ सकती है। इसलिए अब तो, जब कि सैनिक महत्व की दृष्टि से भी उत्पादन का विकेन्द्रीकरण अनिवार्य-सा होगया है, हमारे देश में विकेन्द्रीकरण की जो एक बहुत सुन्दर प्रणाली पहले ही से है उसकी अवहेलना करना निरा पागलपन होगा।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव

जागतिक शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव को क़ायम रखने के लिए कई उपाय सुझाये गये हैं। राष्ट्र-संघ का उद्देश्य यह था कि अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा समझा-बुझाकर या पंच-प्रथा द्वारा कर लिया जाय। पर फासीज्म के प्रकोप के सामने यह सारी इमारत तो ढह कर गिर गई। अब सानफ्रान्सिस्को परिषद् ने संसार में शांति-स्थापना के लिए एक नया इक़रारनामा बनाया है। परन्तु उसका सार तो यह है कि बड़े-तीनों राष्ट्रोंका शेष संसार पर प्रभुत्व रहे। प्रस्तावित अन्तरराष्ट्रीय पुलिस-दल के संचालक एवं नियंता अमरीका का युक्त राष्ट्र, रूस और ब्रिटेन होंगे।

१ रिपोर्ट आफ दी फेक्ट फाइंडिंग कमिटी (हैन्डलूम एण्ड मिल्स) पृ० २०७।

पर अगर खुद संयुक्त राष्ट्रों की आपस में अनबन हो गई तो यह पुलिस-दल क्या करेगा ?

बहुत से प्रमुख विचारकों की राय में इस अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को दूर करने के लिए सारे संसार को एक छत्र के मातहत ले आना अत्यंत आवश्यक है। इलाय कलबर्टसन ने हाल ही में संयुक्त राष्ट्रों से अपील करते हुए कहा है कि अब अविलम्ब एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय कार्यशील सङ्गठन निर्माण करना चाहिए। यह वर्तमान राष्ट्रों की सरकारों से अलग हो। वह किसी उच्च कानून पर आधारित हो, जिसके द्वारा सभी राष्ट्रों की सरकारें समान रूप से नियंत्रित होती रहें। यह अंतर्राष्ट्रीय सङ्गठन स्वतंत्र पुलिस के बल पर अपना शासन चलावे ताकि सबकी सम्मलित रूप से रक्षा हो। और प्रसङ्गवश कभी दूसरे राष्ट्रों के मुकाबले में कोई राष्ट्र अकेला भी पड़ जावे तो वह कहीं अकेला पीस न दिया जाय। दूसरों के मुक़ाबले में उसकी रक्षा भी हो सके। सर विलियम बीवरिज अपनी "शांति की क़ीमत" (प्राइस फार पीस) नामक पुस्तक में तीन बड़ों के बल के आधार पर एक अति राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना की ज़रूरत को प्रकट करते हैं। सुमनर वेल्स कहते हैं कि प्रादेशिक दृष्टि से एक संसारव्यापी सङ्गठन का होना नितान्त आवश्यक है। इन तमाम योजनाओं में निःशस्त्रीकरण और संयुक्त रक्षा को पहले से मान लिया गया है। परंतु इनसे भी हमारी समस्या भली प्रकार हल नहीं होगी।

यह बताने की जरूरत नहीं है कि तमाम युद्धों का असली कारण आर्थिक शोषण और संसार के बाज़ारों पर क़ब्जा करने का अत्यधिक लालच है। गत महायुद्ध के बाद से मित्र राष्ट्र अपने माल का निकास दूसरे देशों में बढ़ाने की धुन में हैं, जिससे वे अपने देश में रहन-सहन को ऊँची रख सकें।

बाज़ारों के लिए यह जो साम्राज्यवादी घुड़दौड़ हो रही है, वह निःसंदेह इन राष्ट्रों में ईर्ष्या-द्वेष जगावेगी, जिसका अंतिम परिणाम होगा

फिर महायुद्ध, जिसकी कल्पना मात्र से दिल दहल जाता है। इसलिए अगर युद्धों को मिटाना है तो इनकी जड़ पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को हमें मिटाना ही होगा। विभिन्न राष्ट्रों के बीच शांति तभी क़ायम हो सकेगी जब कि खुद उन राष्ट्रों के भीतर भी शांति होगी।[१] भीतरी शांति सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण के बग़ैर असम्भव है। ऐसा वितरण सहकारी पद्धति पर उद्योगों के विकेन्द्रीकरण से ही सम्भव है। गृहाद्योगों की सहायता से लालची साम्राज्यवाद को नष्ट करने में निश्चित रूप से हमें बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है और इससे अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना पैदा होगी। इसीलिए आज केवल सैनिक निःशस्त्रीकरण से काम नहीं चलेगा। आज सबसे अधिक ज़रूरत आर्थिक निःशस्त्रीकरण की है। बड़े-बड़े राष्ट्रों की जनता में अपने-अपने प्रदेशों के लिए जैसे-जैसे प्रेम पैदा होने लगेगा, वैसे-वैसे आक्रमणशील राष्ट्रवाद द्वारा संसार के छिन्न-विच्छिन्न किये जाने का ख़तरा भी घटता जायगा।

हकीमजी पहले अपना इलाज कीजिए

यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि संयुक्त राष्ट्रों ने विकेन्द्रीकरण की उपाय-योजना सिर्फ़ पराजित जर्मनी के लिए की है। पोट्स्डम में तीन बड़ों ने यह निश्चय किया था कि संपूर्ण जर्मन राष्ट्र में जनतन्त्री सिद्धातों पर स्थानीय स्वशासन की स्थापना कर दी जायगी। "और यह कि खेती और शांतिपूर्ण गृहोद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान दिया जायगा।" और लोग जो चाहे सोचें मेरा तो निश्चित विश्वास है कि इस आर्थिक और राजनैतिक विकेन्द्रीकरण से हिटलर की भूमि में अवश्यमेव स्थायी शांति और समृद्धि आवेगें। ध्यान देने की बात है कि शांतिपूर्ण गृहोद्योगों की स्थापना उस देश में की जा रही है जहां हिंसा को उसकी परमावधि तक पहुंचा दिया गया था। दुःख केवल इस बात का है कि यह विकेन्द्रीकरण अन्दर से नहीं पैदा हुआ है, बाहर से ज़बरदस्ती के साथ मढ़ा जा रहा है। पर विजेता इस पर बहुत अधिक खुशियां न मनावें।

१ व्हेअर डु वी गो फ्राम हियर—पृ० १२५

मुझे इन मित्र-राष्ट्रों से कहने दीजिए कि 'हकीमजी पहले अपना इलाज तो कीजिए।' जो उपाय-योजना मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी में शान के साथ की है, उसीका अवलम्बन वे अगर अपने राष्ट्रों में भी करेंगे तो संसार में निश्चित रूप से स्थायी शान्ति की स्थापना हो जायगी, क्योंकि इससे आक्रमण की खुजली ही मिट जायगी। पर अगर उन्होंने यह नहीं किया तो संसार एकबार फिर निश्चित रूप से अभूत-पूर्व संकट में जा गिरेगा।

हमारे आलोचक पूछ सकते हैं कि "जो पद्धति जर्मनी को अनंत-काल तक गुलामी में रखने के लिए उस पर लादी गई है, उसीकी सिफ़ारिश आप हिन्दुस्तान के लिए क्यों कर रहे हैं?" उन्हें मेरा जवाब है—अगर स्वतन्त्र भारत अपनी स्वेच्छा से इस पद्धति को स्वीकार करेगा तो वह न केवल भीतरी शान्ति की स्थापना करेगा, बल्कि वह बाहर भी इस शान्ति को फैला सकेगा। जर्मनी की भांति वह अपमानित और दलित होकर अपनी खोई हुई शक्ति को छिपे-छिपे प्राप्त करके संसार पर अपना सिक्का जमाने की कोशिश नहीं करेगा। वह तो एक दीप-स्तम्भ की भांति होगा जो दूसरे देशों को साम्राज्यवाद और शोषण के अंधकार में सदा प्रकाश देकर उनका मार्ग-दर्शन करता रहेगा। वह न तो खुद किसी देश का शोषण करेगा, न दूसरों को अपना शोषण करने देगा।

क्या वह मध्ययुगीन है?

गांधीवाद के ख़िलाफ़ यह बार-बार कहा जाता है कि यह तो हमें मध्ययुग में ले जाता है। वह घड़ी के कांटों को पीछे हटानेवाला है। परन्तु इन आलोचनाओं की जड़ में गांधीजी के सिद्धान्तों के बारे में लोगों का पूर्ण अज्ञान ही है। गांधीजी यह कदापि नहीं चाहते कि हमारी ग्राम-संस्थायें शेष देश या संसार से कोई सम्बन्ध न रक्खें या उनसे अलग अथवा कटी हुई रहें। न तो यह सम्भव है और न इष्ट ही है। गांधीजी चाहते हैं कि हमारी ग्राम-संस्थायें स्वराज्य-सरकार की प्राथमिक इकाइयां हों और उन्हें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक मामलों में अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता हो। गांवों का अपनी तहसील, ज़िला और प्रान्त की सभाओं के

तथा संघ पार्लमेण्ट की मार्फ़त तहसील, ज़िला, प्रान्त और अखिल भारतीय केन्द्र से व्यवस्थित सम्बन्ध हो।

यह मानना ग़लत होगा कि पुराने और मध्ययुगीन ज़माने में भी ग्राम-संस्थाओं का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं था। मनुस्मृति, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और संस्कृत के अन्य ग्रन्थों से हमें पता चलता है कि प्रत्येक गांव, दस गांव, बीस गांवें, एक सौ गांव और एक हज़ार गांवों पर योग्य अधिकारी नियुक्त रहते थे और वे अपने मातहत के गांवों के काम-काज की देख-भाल करते थे। यह भी सत्य है कि प्रत्येक गांव को अपने मामलों में राष्ट्रीय रक्षा और कार्यक्षमता से सुसंगत बहुत अधिक स्वाधीनता थी। परन्तु ग्रामीण जनतन्त्र शनैः-शनैः संघ-निर्माण के आधार पर राजनैतिक संगठनों में मिले जाते और ठेठ नीचे से जनता के बने स्वशासित व्यापक संगठन से बढ़ते हुए, एक के ऊपर एक, इस तरह उत्तरोत्तर बड़े-बड़े संगठन बनते जाते थे। प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी बताते हैं कि इन उत्तरोत्तर ऊंचे बढ़नेवाले घटकों को क्रमशः सभा, महासभा, और नत्तर कहा जाता था। चोलों के महान साम्राज्य के अधिपति सम्राट राजराज के समय के जो अनेक शिलालेख मिले हैं, उनमें इस राजा के शासन-संगठन का उल्लेख है, जिसमें इस प्रकार से शासन-तन्त्र का परिचय देनेवाला सबसे उत्तम वर्णन मिलता है। सब से छोटा घटक—और शासन-सगठन का आधार गांव (उरू) या कस्बा (नगर) था। इससे ऊंचा घटक नाडु अथवा कुरम् कहलाता था। संगठन में तीसरा स्थान कोट्टम या विसाया का था और इससे ऊपर जो संगठन था उसे मण्डल या राष्ट्र कहते थे। यह साम्राज्य का एक प्रान्त था। स्व० काशीप्रसाद जायसवाल ने अपनी 'हिन्दू राजतंत्र' में जनपद के संगठन का कुछ परिचय दिया है। इसमें देश की कितनी ही प्रान्तीय सभाओं का प्रतिनिधित्व होता था। इन सब बातों से प्रकट होता है कि हिन्दुस्तान की प्राचीन ग्राम-प्रणाली पुराने कबीलों का अवशेष नहीं, बल्कि वह संघ-पद्धति पर संगठित एक प्रकार की शासन-प्रणाली थी।

आज हमें इस संगठन को और भी अधिक व्यवस्थित और दृढ़ बनाना होगा। परन्तु इसकी आधारभूत कल्पना विकेन्द्रीकरण और सत्ता का बंटवारा हो, जिनके कारण हमारी ग्राम-संस्थायें सदियों टिकी हैं। भारत के भावी शासन-विधान का आधार भी यही दो तत्त्व हों। यह पद्धति मध्ययुगीन नहीं, बल्कि किसी भी आधुनिक राज्य के लिए आदर्श के नमूने का काम देगी। डा० राधाकृष्णन् कहते हैं—गांवों की तरफ़ लौट जाने के मानी जंगली--असभ्य-युग में चले जाना नहीं है। वह तो केवल भारतवर्ष की स्वाभाविक जीवन-पद्धति का पुनः स्वीकार मात्र है, जिसने हमारे जीवन को सहेतुक बनाया, उसमें श्रद्धा उत्पन्न की और उसे सार्थकता प्रदान की। मानव-जाति की सभ्यता की रक्षा का केवल वही एक मात्र तरीक़ा है। ग्रामीण और किसान-जीवन वाले, ग्राम-पंचायतों वाले, जंगलों के आश्रम वाले, और आध्यात्मिक साधनाओं वाले हिन्दुस्तान ने समस्त संसार को बहुत बड़े-बड़े सबक़ सिखाये हैं। पर एक भी आदमी के साथ अन्याय नहीं किया है, एक भी देश को हानि नहीं पहुंचाई और न दूसरे देशों पर क़ब्जा करने की अभिलाषा रक्खी है।[1]

इतने पर भी अगर कोई आलोचक यही कहे कि गांधीजी के सिद्धान्त तो मध्ययुग में ले जाने वाले हैं तो मैं निःसंकोच कह दूंगा कि ये मध्ययुगीन सिद्धांत आजकल की सभ्यता से, जो अपने साथ शोषण, उपनिवेशों का विस्तार, साम्राज्यवाद और आत्म-घातक लड़ाइयां लाई है हज़ार गुने अच्छे हैं। अगर प्रगति के मानी यही हैं, जो कि यह भौतिक सभ्यता प्रकट करती है ,तो जहन्नुम में जाय ऐसी प्रगति।

अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व

हम अन्तर्राष्ट्रीयता की बातें तो खूब बनाते हैं और गांधीवाद की निन्दा भी करते हैं, पर क्या हमने कभी यह भी समझने की चेष्टा की है कि गांधीजी तो इस अन्तर्राष्ट्रीयवाद से कहीं आगे हैं? उन्हें केवल अन्तर्राष्ट्रीयता से ही संतोष नहीं है, वे तो विश्वबन्धुत्व चाहते हैं।

१ महात्मा गांधी—एसेज एंड रिफ्लेक्शन्स ऑन हिज लाइफ एंड वर्क।

ग्राम, प्रान्त, देश और संसार के मनुष्यों के साथ ही नहीं बल्कि इस अनन्त विश्व के साथ तादात्म्य का अनुभव करने की शिक्षा वे हमें दे रहे हैं। परन्तु इस विश्वबन्धुत्व का अनुभव और व्यवहार करने के लिए यह ज़रा भी आवश्यक नहीं कि हम अपने पर फैलाकर निरन्तर ज़मीन और आसमान के अन्तिम छोर तक चक्कर काटते रहें। हम तो शांतिपूर्वक अपनी कुटिया में बैठकर भी विश्व के साथ तादात्म्य का अनुभव कर सकते हैं। अंतर्राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व दिशा और काल से नहीं, बल्कि मन की अवस्था से ताल्लुक़ रखने वाली वस्तुएं हैं। हम ग्राम-प्रेम और विश्व-प्रेम का पालन एक साथ कर सकते हैं। गांधीजी के विचारानुसार हमारा स्थूल निवास का आधार तो गांव हो और आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक निवास का आधार विश्व हो। उनके स्वदेशी-धर्म का सार यही है। गांधीजी सारी मनुष्य-जाति और विश्व की सेवा ज़रूर करना चाहते हैं, परन्तु अपने निकटतम पड़ोसियों और देश की सेवा द्वारा। वह कहते हैं मेरा देश-प्रेम दोनों प्रकार का है। वह कुछ चीज़ों को शामिल करता है और कुछ को बाहर। बाहर इस अर्थ में करता है कि अत्यन्त नम्रभाव से मैं अपना ध्यान केवल मेरी जन्म-भूमि तक ही मर्यादित कर देता हूं। परन्तु शामिल इस तरह करता है कि मेरी सेवा का आधार किसी प्रकार की होड़ या विरोध नहीं है। मैं तो भूतमात्र के साथ अपने आपको मिला देना चाहता हूं।'[1]

नवीन सभ्यता

असल बात तो यह है कि गांधीजी का तरीक़ा जीवन का मध्ययुगीन तरीक़ा नहीं बल्कि प्रत्यक्ष एक नवीन सभ्यता है। वर्तमान सभ्यता की बुराइयों को दूर करने के लिए कई एक-से-एक बढ़कर उपाय सुझाये गये, परन्तु सब-के-सब एक बात हिंसा और ज़बरदस्ती पर मूलतः सहमत हैं। वाल्टर लिपमेन लिखता है कि संसार के प्रभुत्व के लिए लड़नेवाले यद्यपि आज अलग-अलग रंग के कपड़े पहने हुए हैं, तथापि उनका

१ विज्डम आफ गांधी—राय वाकर—पृ० ५५।

हथियारख़ाना एक ही है। उनके सिद्धांतों की भाषा सिर्फ़ जुदी है पर विषय एक ही है। और वे एक ही युद्ध-गीत गाते हुए रणस्थली की ओर प्रयाण कर रहे हैं, सिर्फ़ कुछ शब्द अलग-अलग हैं। मनुष्य के जीवन और श्रम का वे ज़बरदस्ती के साथ उपयोग करना चाहते हैं। उनका सिद्धांत यह है कि संगठन में ज्यों-ज्यों अधिकाधिक ज़बरदस्ती हम करते जावेंगे, त्यों-त्यों अव्यवस्था और दुःखों पर विजय पाते जावेंगे। वे कहते हैं, राज्य अपनी शक्ति के बल पर मनुष्यों को सुखी कर सकता है।'[1] यह युग राज्य की ज़बरदस्ती का युग है। प्रवाह ज़ोरों का है। जो इस सम्मिलित सत्ता या अधिकारतंत्र को नहीं मानता वह पत्थर है, वह प्रतिक्रियावादी है। ये शब्द कड़े हों तो उसे एक सज्जन पागल कह लीजिए, जो प्रवाह के ख़िलाफ़ तैरने का निराशाजनक प्रयत्न करता है। ऐसे ज़माने में महात्मा गांधी अकेले ऐसे आदमी हैं, जो पिछले कुछ वर्षों से लगातार और आग्रहपूर्वक अहिंसा और विकेन्द्रीकरण की सलाह देते रहे हैं। सादगी, सजीवता और वास्तविकता की दृष्टि से उनका दृष्टि-बिन्दु एकदम पूरबवासियों का-सा है। डा० राधाकमल कहते हैं "हमारे राजनैतिक भविष्य की पूर्वी कल्पना में बुद्धिवादियों की डिक्टेटरी या चन्द ख़ास दौलतमन्दों की हुकूमत नहीं होगी। विशेष वर्गों से ईर्ष्या रखने वाले किसान-मजदूरों की वह मनमानी भी नहीं होगी, जो करोड़ों बेज़बानों पर, ऊपर, से उनकी इच्छा-अनिच्छा का बग़ैर ख़याल किये, लादी गई हो। असल में वह तो किसानों का सच्चा जनतंत्र होगा। पुराने देहात और नगर के प्रत्यक्ष काम करने वाले ज़रूरी संगठन उसके आधार होंगे और फिर प्रातिनिधीक पद्धति से तहसील, ज़िला और प्रान्तीय क्षेत्रों का वे संचालन करेंगे और अन्त में सब मिलकर राष्ट्रीय धारासभा का सम्मिलित रूप से निर्माण करेंगे। यह जनतंत्र ग्रामों में पुनः जीवन का संचार करेंगे और उन पवित्र मंदिरों तथा वृक्षों को पुनः अपना महत्त्व प्रदान करेंगे जहां से कि इस पद्धति का प्रारम्भ हुआ था। किन्तु साथ ही इनमें

१ 'दि गुड सोसायटी'—वाल्टर लिपमेन, पृ० ५

नवीन युगोचित क्रियाशील और प्रेम भरे जीवन की ताज़गी और चेतना भी होगी ही।"[1]

गांधीजी ने हाल ही में एक वक्तव्य दिया था, जिसमें उन्होंने इस नवीन सभ्यता की अपनी कल्पना को राम-राज्य के नाम से प्रकट किया था। वह लिखते हैं, "धार्मिक भाषा में उसे हम राम-राज्य अर्थात् खुदाई हुकूमत कह सकते हैं। पर राजनैतिक भाषा में वह संपूर्ण जनतंत्र है। उसमें सधनता और निर्धनता, वर्ण, जाति, धर्म, लिंग आदि सम्बन्धी सब विषमतायें नहीं होंगी। राज्य और ज़मीन पर जनता का प्रभुत्व होगा। न्याय तुरंत और पूर्ण होगा, पर खर्चीला न होगा। वहां पूजा-प्रार्थना की स्वतन्त्रता होगी; और भाषण, मुद्रण वगैरा की भी आज़ादी होगी, क्योंकि नैतिक संयम के आधार पर स्वेच्छापूर्वक बनाये कानून का राज्य होगा और लोग उसका पालन करेंगे। ऐसे राज्य की बुनियाद सत्य और अहिंसा होंगे और उसमें सुख, समृद्ध और स्वावलम्बी गांव तथा ग्राम पंचायतें होंगी।"

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि गांधीजी के सिद्धांतों पर बनाई गई वैधानिक सरकार का आदर्श केवल हवाई चीज नहीं होगी बल्कि वह तो आर्थिक संघर्ष और आंतर्राष्ट्रीय लड़ाइयों पर एक व्यावहारिक एवं स्थायी हल होगा। इन कल्पनाओं को अव्यावहारिक सपना कह कर जो लोग इनकी खिल्ली उड़ाते हैं वे ज़रा आधुनिक महायुद्धों से होने वाली बरबादी का खयाल करें। अगर हम चाहते हैं कि अब भविष्य में ऐसे भयंकर युद्धों की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए तो हमें अपने आर्थिक और राजनैतिक संगठनों में आमूल परिवर्तन करना होगा। तथा कथित प्रगतिशील योजनायें और तजवीजें हमें कहीं नहीं ले जा सकतीं। जैसा कि सर विलियम बीवरिज ने कहा है—"अब हमारे सामने आज के जगत् और खयाली दुनिया के बीच चुनाव करने की समस्या नहीं,

[1] डमाक्रेसीज़ आफ़ दी ईस्ट—पृ० २६३-६४

बल्कि इस ख़याली दुनिया की आदर्श हुकूमत और जहन्नुम के बीच चुनाव करने की समस्या खड़ी है।"[1] हम जहन्नुम को पसन्द करना चाहते हैं या गान्धीजी के कल्पनागत ऐसे नये संसार को? हमें यह निर्णय तुरंत करना है, और करना है श्रद्धा और निश्चय पूर्वक अन्यथा इस जोरों से आने वाले संसार व्यापक विनाश के प्रवाह को हम नहीं रोक सकेंगे।

---

[1] दि प्राइस ऑफ पीस—पृ० ८७

दूसरा भाग

: ५ :

मौलिक अधिकार और कर्तव्य

इस पुस्तिका के पहले भाग में मैंने उन बुनियादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनके आधार पर स्वराज्य का विधान बनाया जाना चाहिये। अब इस दूसरे भाग में उन विभिन्न अङ्गों और पहलुओं की चर्चा करूंगा जो इसकी ख़ासियत होंगे। यह कोई कलमवार विधान पेश करने का प्रयास नहीं है। वह तो विधान-शास्त्रियों का अपना काम है। अगर इस पुस्तिका में बताई गई मुख्य-मुख्य बातें भावी विधान में शामिल कर ली गईं तो मुझे संतोष हो जायगा। हां, यहां पर यह भी बता दूं कि यह योजना स्वतन्त्र भारत के लिए है, जिसका अंग्रेजी साम्राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। तो सब से पहले हम मौलिक अधिकारों को ही लें। भारतीय विधान में नागरिकों के अधिकारो को साफ़-साफ़ तौर पर बता देना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि हमारे देश में जाहिल जातीय समस्या है, उसका ध्यान रखना ज़रूरी है। इन अधिकारों में अल्पसंख्यकों को अधिक-से-अधिक संरक्षण दिया गया है। विधान में इनका अवश्य समावेश किया जाना चाहिए।

१. क़ानून की निगाह में तमाम नागरिक समान होंगे। उनमें जात-पांत, रंग, लिंग, मज़हब या सम्प्रदाय, और अमीर-ग़रीब का कोई भेद-भाव न होगा।

२. राज की नौकरी, मान-सम्मान और व्यापार-व्यवसाय में किसी भी नागरिक स्त्री या पुरुष के मार्ग में धर्म, जाति या विश्वास के कारण कोई रुकावट न होगी।

३. नागरिकों को पूरी शारीरिक-स्वतन्त्रता, भाषण-स्वतन्त्रता, सभा-संगठन की स्वतन्त्रता और बात-चीत की स्वतन्त्रता होगी। केवल एक बंधन होगा—अहिंसा और सार्वजनिक नीति-अनीति का।

४. प्रत्येक नागरिक को अपने विवेक के अनुसार चलने की स्वतन्त्रता होगी, व्यक्तिगत और सामाजिक रूढियों के पालन की आज़ादी होगी। हां, इनमें सार्वजनिक व्यवस्था और नीति-अनीति का ध्यान रखना ज़रूरी होगा।

५. तमाम नागरिकों को अपनी लिपि, भाषा और संस्कृति की रक्षा और विकास करने का अधिकार होगा।

६. राजकोष से बनाये गये या समस्त जनता के उपयोग के लिए ख़ानगी व्यक्तियों द्वारा दिये गये तमाम कूए, बावड़ी, तालाब, सड़कें, पाठशालाएं और आराम-घर वग़ैरा पर तमाम नागरिकों का अधिकार समान होगा।

७. प्रत्येक नागरिक को बुनियादी शिक्षा अर्थात नई तालीम मुफ्त पाने का अधिकार होगा।

८. अपनी जान और माल की रक्षा के लिए हिंसा, ज़बरदस्ती, या धमकी वग़ैरा से क़ानून और पुलिस की रक्षा पाने का प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी होगा।

९. ईमानदारी से काम करते हुए हर व्यक्ति को कम-से-कम नियत जीवन-वेतन पाने का अधिकार होगा।

१०. दिन में आठ घण्टे से अधिक काम करने के लिए किसी पर भी ज़बरदस्ती नहीं की जा सकेगी।

११. प्रत्येक मनुष्य को इलाज और दवा-दारू के विषय में पूरी आज़ादी होगी। (टीका वग़ैरा लगवाने के सम्बन्ध में आज के क़ानूनों में आवश्यक फेर-फार कर दिये जावेंगे)।

१२. बालिग मताधिकार के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को देश के शासन में भाग लेने का अधिकार होगा।

१३. राज द्वारा बनाये गये क़ानूनों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को हथियार रखने का अधिकार होगा।

कर्तव्य

परन्तु ये तमाम अधिकार नीचे लिखे कर्तव्यों के पालन पर ही प्राप्त हो सकेंगे :

१. तमाम नागरिक राष्ट्र के प्रति वफ़ादार होंगे।

२. क़ानून के अनुसार नकद, अनाज वगैरा या शारीरिक श्रम राष्ट्र के कोष में देकर हर नागरिक सार्वजनिक सेवा में सहायता करेगा।

३. मनुष्य-मनुष्य के बीच होने वाले शोषण से प्रत्येक नागरिक अपने को बचावेगा, उसे रोकेगा और ज़रूरत पड़ने पर प्रतिकार करेगा।

: ६ :

गांव—राष्ट्र की बुनियादी इकाई

जैसा कि पहले बताया गया है, गांधीजी चाहते हैं कि स्वतंत्र भारत में स्वावलम्बी और स्वशासित गांव राष्ट्र की सरकार की बुनियादी इकाइयां होंगे। यह योजना देश की पूर्व परम्परा के अनुकूल ही होगी। अगर गांव बहुत छोटे-छोटे और नज़दीक-नज़दीक हों तो ऐसे अनेक गांवों को मिलाकर उनको एक इकाई माना जा सकता है।

पंचायत

तमाम बालिग स्त्री-पुरुषों के वोट से प्रत्येक गांव में एक पंचायत चुनी जायगी। साधारणतया इसमें पांच ही आदमी हों। अगर गांव बड़े हों तो पंचों की संख्या सात से ग्यारह तक भी हो सकती है। पंचायत के सरपंच का चुनाव सर्वानुमति से होगा। अगर पंचों में सर्वानुमति से सरपंच का चुनाव संभव नहीं होगा तो गांव के तमाम बालिग स्त्री-पुरुष खुद मिलकर पंचों में से किसी एक का पंचायत के अध्यक्ष के लिए चुनाव कर लेंगे।

साधारणतया प्रत्येक पंचायत का कार्यकाल तीन वर्ष का होगा। वही सदस्य दूसरी और तीसरी बार भी चुने जा सकते हैं। पर तीन बार से अधिक नहीं। अगर कोई सदस्य अपना कार्यकाल समाप्त होने से पहले बीच ही में गांव का विश्वास खो दे तो उसे ७५ प्रतिशत बहुमति से वापिस भी बुलाया जा सकेगा।

अपने गांव के पटवारी, चौकीदार या पुलिस कर्मचारी को मुकर्रर करने या अलग करने का पूरा अधिकार पंचायत को होगा।

जहांतक सम्भव हो—और खासकर जहां अल्पमति के अधिकारों का सवाल हो—पंचायत के निर्णय सर्वानुमति से ही हों।

पंचायत के काम

चूंकि पंचायतों को अधिक-से-अधिक स्थानीय स्वतंत्रता होगी, गांव के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले तमाम प्रश्नों के सम्बन्ध में पंचायत को अत्यन्त व्यापक अधिकार होंगे। वे ये हैं—

१—शिक्षा

(क) एक प्राथमिक शाला—अर्थात् पहली बुनियादी पाठशाला चलाना। इसमें किसी उत्पादक उद्योग के द्वारा बच्चों को प्रारम्भिक, सांस्कृतिक और औद्योगिक तालीम दी जायगी।

(ख) एक ग्रंथालय और वाचनालय चलाना। ग्रन्थालय में पुस्तकें शिक्षात्मक होंगी, जो गांवों की सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक प्रवृत्तियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाली होंगीं।

(ग) प्रौढ़ों के लिए एक अलग शाला चलाना।

२—मनोरंजन

(क) अखाड़ा, व्यायामशाला और खेल के मैदानों की व्यवस्था करना। स्वदेशी खेलों को खासतौर पर प्रोत्साहन दिया जायगा।

(ख) समय-समय पर कला और कारीगरी की नुमाइशें करना।

(ग) सामूहिक रूप से तमाम जातियों के त्यौहार मनाना।
(घ) मौसम के मेले करने की व्यवस्था करना।
(ङ) भजन और कीर्तन मण्डलियां चलाना।
(च) लोक-गीत, नृत्य और नाटकों को प्रोत्साहन देना।

३—आत्म-रक्षा

(क) चोर, डाकू और जंगली जानवरों से गांव की रक्षा करने के लिए ग्राम-रक्षक रखना।
(ख) तमाम नागरिकों को सत्याग्रह और अहिंसक प्रतिकार और रक्षा की विधिवत् शिक्षा देने की नियमित व्यवस्था करना।

४—खेती

(क) गांव के प्रत्येक खेत का लगान कूतना।
(ख) किसानों से ज़मीन का लगान वसूल करना।
(ग) चक-बन्दी और सामूहिक खेती को प्रोत्साहन देना और उसका संगठन करना।
(घ) आबपाशी की उचित व्यवस्था करना।
(ङ) सहकारी दूकानों के ज़रिये किसानों को अच्छे बीज और अच्छे औज़ार देने की व्यवस्था करना।
(च) यह कोशिश करना कि प्रत्येक गांव अपने खाने का तमाम किस्म का ज़रूरी अनाज वग़ैरा खुद ही पैदा कर ले। पैसा देने वाली फसलें पैदा करने की पद्धति को रोकना।
(छ) किसानों के क़र्ज़ का हिसाब लगाकर उसकी जांच करना, जहां ज़रूरत हो उनके कर्ज को कम करना और व्याज की दरों पर नियन्त्रण लगाना। जहां सम्भव हो सहकार पद्धति से संयुक्त साख पर कर्ज देनेवाले बैंक भी खोलना।
(ज) मिट्टी के बहते रहने से हर साल जो ज़मीन खराब होती जा रही है उसे रोकना और सम्मिलित प्रयत्न से ऊसर ज़मीनों को उपजाऊ बनाना।

५—उद्योग

(क) गांव के उपयोग के लिए खादी की उत्पत्ति का संगठन करना।

(ख) सहकार पद्धति पर अन्य ग्रामोद्योगों का भी संगठन करना।

(ग) एक सहकारी दूधशाला चलाना, भैंस के बजाय गाय के पालन को प्रोत्साहन दिया जायगा।

(घ) मरे पशुओं के चमड़े को काम में लाने के लिए चमड़ा पकाने की शालायें कायम करना।

६—व्यापार-व्यवसाय

(क) खेती और गृहोद्योगों से पैदा होने वाली चीज़ों को सहकारी पद्धति पर बेचने की व्यवस्था करना।

(ख) बाहर का माल ख़रीदने के लिए ग्राहकों की सहकारी संस्थाओं का संगठन करना।

(ग) वही चीज़ें बेचने की व्यवस्था करना जो गांवों की ज़रूरतें पूरी करने के बाद बच रहें। इसी प्रकार बाहर से भी वही चीज़ें ख़रीदी जावें जो गांवों में पैदा नहीं हो सकतीं।

(घ) गांवों में सहकारी गोदाम चलाना।

(ङ) गांवों के कारीगरों की ज़रूरतों को पूरी करने के लिए सस्ती दर पर क़र्ज़ दिलाने की व्यवस्था करना।

७—सफ़ाई और आरोग्य

(क) गांव में सफ़ाई की उचित व्यवस्था करना।

(ख) गांव की जनता की असुविधाओं को दूर करना तथा महामारियों को फैलने से रोकना।

(ग) पीने के लिए विपुल मात्रा में साफ़ और आरोग्य-वर्धक जल की व्यवस्था करना।

(घ) गांव के लिए एक औषधालय और प्रसूतिगृह—ज़च्चा-घर की व्यवस्था करना। यहां लोगों का इलाज मुफ़्त हो। इलाज की देशी पद्धति और प्राकृतिक चिकित्सा को प्रोत्साहन दिया जायगा।

८—न्याय

(क) गांव के लोगों को जल्दी और सस्ता न्याय मिले ऐसी व्यवस्था करना। पञ्चायतों को दीवानी और फ़ौजदारी के व्यापक अधिकार होंगे।

(ख) ग्रामीणों को क़ानूनी सलाह और जानकारी मुफ्त मिले ऐसी व्यवस्था करना।

६—कर और अर्थ-व्यवस्था

(क) खास-खास कामों के लिये गांवों पर कर लगाना और उन्हें वसूल करना। नक़द धन के बजाय अनाज व खेतों की अन्य पैदावार, और श्रम के रूप में करो की अदायगी को प्रोत्साहन दिया जायगा।

(ख) सामाजिक और धार्मिक प्रसंगों पर व्यक्तिगत दान एकत्र करना।

(ग) आमद और खर्च का हिसाब ठीक तरह से रखने की व्यवस्था करना। इनकी विधिवत् जांच हो। जनता को इसे देखने का हक होगा।

गांधीवादी विधान में हमारे गांवों को कितनी आज़ादी होगी इसकी पाठकों को कल्पना देने के लिए पञ्चायत के कामों की सूची को मैंने काफी विस्तृत बनाने का यत्न किया है।

: ७ :

तहसील और ज़िला पंचायतें

गांवों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रवृत्तियों को सुव्यवस्थित करने के लिए तहसील और ज़िला पञ्चायतें होंगी। इन ऊपरी संस्थाओं का काम सलाह देने का होगा। वे हुक्म नहीं देंगी। वे मार्ग-दर्शन करेंगी, सलाह देंगी और देखभाल करेंगी। मातहत पञ्चायतों को हां मे जंगी।

तहसील पंचायतें

कुछ गांवों के विधिवत् चुने हुए अध्यक्षों की तहसील या परगना पंचायतें होंगी। एक तहसील में जितने गांव शामिल होंगे उतने ही इस तहसील पंचायत के सदस्य होंगे। साधारणतया बीस गांव की एक तहसील होगी जिसकी आबादी लगभग बीस हज़ार के क़रीब होगी। कहने की ज़रूरत नहीं कि न्याय देने, क़ानून बनाने और अमल करने की दृष्टि से तहसीलों के मौजूदा आकार बहुत बड़े होंगे। इन्हें तोड़कर बहुत छोटा करना होगा।

ग्राम पंचायत की भांति तहसील पंचायत का कार्यक्रम भी तीन वर्ष का होगा।

तहसील पंचायत के काम नीचे लिखे अनुसार होंगे :—

(अ) ग्राम-पंचायतों का मार्ग-दर्शन करना, उनके काम की देख-भाल करना और उनके हिसाब की जांच करना।

(आ) माध्यमिक या ऊपर के दर्जे की बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था करना।

(इ) विशेष प्रकार की चिकित्सा और इलाज के लिए बड़े अस्पताल और प्रसूति-गृह चलाना।

(ई) तहसील की तमाम पंचायतों की बचत और घटी को देखकर उनकी आय-व्यय और ज़रूरतों का मेल बैठाना।

(उ) विशेष परिस्थितियों के लिए अतिरिक्त पुलिस दल रखना।

(ऊ) तहसील की जनता के लिए सहकारी बैंक और बिक्री संस्थाओं को चलाना।

(ए) गांवों के बीच के रास्तों को अच्छी हालत में रखना।

(ऐ) खेती की पैदावार को बढ़ाने वग़ैरा के प्रयोग बताने के लिए आदर्श खेत चलाना।

(ओ) गांवों के बीच खेल-कूद वग़ैरा का संगठन करना।

जिला पंचायतें

सब तालुका-पञ्चायतों के अध्यक्ष मिल कर ज़िला-पञ्चायत बनेंगी। पर साधारणतया एक ज़िले में उपर्युक्त आकार-प्रकार की बारह से अधिक तहसीलें नहीं होंगी। ज़िला पंचायत का कार्यक्रम भी तीन वर्ष ही होगा।

उसके काम ये होंगे—

(अ) तहसील-पंचायतों का मार्ग-दर्शन, उनके काम की देख-भाल और हिसाब की जांच-पड़ताल करना।

(आ) बुनियादी तालीम के बाद की अर्थात् कॉलेज की उच्च शिक्षा की व्यवस्था करना।

(इ) ख़ास-ख़ास बीमारियों के इलाज के लिए अच्छे सुव्यवस्थित अस्पताल चलाना।

(ई) ज़िले में विशिष्ट परिस्थितियों के लिए अतिरिक्त पुलिस का दल रखना।

(उ) ज़िला सहकारी बैंक और बिक्री संस्थाएं चलाना।

(ऊ) जिले में खेती की पर्याप्त व्यवस्था करना।

(ए) तहसीलों के बीच खेलों की टूर्नामेंटों का संगठन करना।

म्युनिसिपल कौन्सिलें

क़स्बों में वार्ड-पंचायतें और म्युनिसिपल कौन्सिलें होंगी। उन्हें क़ानून बनाने और उनके अमल के व्यापक अधिकार होंगे। उनके काम ज़िला पंचायतों के ढंग के होंगे अर्थात् वे वार्ड-पंचायतों की प्रवृत्तियों का समन्वय एवं सामंजस्य करती रहेंगी।

क़स्बे के तमाम आवागमन और यातायात के साधनों, बिजली घर, और वॉटर वर्क्स पर म्युनिसिपल कौन्सिल का स्वामित्व होगा, और वही उनका संचालन करेंगी।

: ८ :

प्रान्तीय शासन

ज़िला पंचायतें तथा म्युनिसिपल कौन्सिलें अपने अध्यक्षों को प्रान्तीय पंचायत में भेजेंगी। इनकी संख्या प्रान्तों के आकार के अनुसार अलग-अलग होगी। छोटे प्रान्तों में ज़िला पंचायतें तथा म्युनिसिपल कौंसिलें अपने अध्यक्ष के अलावा एक और प्रतिनिधि प्रान्तीय पंचायत में भेज सकेंगी।

प्रान्तीय पञ्चायतों का कार्य काल भी तीन वर्ष ही होगा।

कार्य

प्रान्तीय पञ्चायत के काम ये होंगे—

(अ) ज़िला पंचायतों की प्रवृत्तियों का मार्ग-दर्शन, देख-भाल और समन्वय करना तथा उनके हिसाब की जांच-पड़ताल करना।

(आ) विशेष जरूरत के प्रसंगों के लिए अतिरिक्त पुलिस का दल रखना।

(इ) उच्च औद्योगिक शिक्षा और संशोधन कार्य के लिए विश्व-विद्यालय चलाना।

(ई) प्रान्त के अन्दर आवागमन, यातायात और खबरें वगैरा भेजने के साधनों के संगठन और सुसंचालन की व्यवस्था करना। इन तमाम साधनों पर स्वामित्व प्रान्तीय पंचायत का होगा।

(उ) आबपाशी की पूरी आवश्यक सुविधायें करना।

(ऊ) अकालों के समय सहायता की व्यवस्था करना।

(ए) ज़िला पंचायतों को सस्ते ब्याज पर क़र्ज़ देने के लिए प्रान्तीय सहकारी बैंकें चलाना।

(ऐ) प्रान्त की प्राकृतिक संपत्ति का विकास करना और जहां ज़रूरत हो मुख्य उद्योगों का संचालन करना।

सीमायें

प्रान्त की सीमायें ख़ासतौर पर भाषाओं के आधार पर क़ायम की जावेंगी। प्रान्तों की वर्तमान सीमायें ऐतिहासिक ज़रूरतों के आधार पर क़ायम की गई हैं। उनके पीछे कोई वैज्ञानिक तत्त्व नहीं है। इनमें से कई के अन्दर बेमेल और टकराते हुए तत्त्वों को जोड़ दिया गया है। इसलिए भाषा के आधार पर इनका पुनर्निर्माण करना होगा। यह इसलिए बहुत ज़रूरी है कि आगे चलकर प्रान्त के तमाम कानून, उनका अमल तथा न्याय और शिक्षा का काम सब प्रान्तीय भाषा में होगा। ऐसी सूरत में प्रान्त में एक से अधिक भाषाएं होंगी तो बहुत-सी कठिनाइयां खड़ी हो जावेंगी। फिर शिक्षा की दृष्टि से भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि बच्चों की शिक्षा ठेठ ऊपर तक उनकी मातृभाषा में ही हो। दो या दो से अधिक भाषा वाले प्रान्तों में मातृभाषा द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध करना बहुत असम्भव हो जायगा। इस दृष्टि से बम्बई, मद्रास और मध्य प्रदेश की वर्तमान रचना में बहुत बड़े फेर बदल करने होंगे।

भावी विधान में प्रान्तों के नाम ये होंगे :—

	प्रान्त	भाषा
१.	अजमेर-मेरवाड़ा	हिन्दुस्तानी
२.	आन्ध्र	तेलगू
३.	आसाम	आसामी
४.	बिहार	हिन्दुस्तानी
५.	बंगाल	बंगाली
६.	बम्बई (शहर)	मराठी और गुजराती
७.	दिल्ली	हिन्दुस्तानी
८,	गुजरात	गुजराती
९.	कर्नाटक	कन्नड़
१०.	केरल	मलयालम
११.	महाकोशल	हिन्दुस्तानी

१२.	महाराष्ट्र	मराठी
१३.	नागपुर (बरार सहित)	मराठी
१४.	सीमाप्रान्त	पश्तो
१५.	पंजाब	पंजाबी
१६.	सिन्ध	सिन्धी
१७.	तामिलनाड्	तामिल
१८.	संयुक्त प्रान्त	हिन्दुस्तानी
१९.	उत्कल	उडिया

कांग्रेस ने जिस पद्धति पर प्रान्तों का विभाजन किया है उसी पद्धति पर यह उपर्युक्त विभाजन भी किया गया है। नागपुर और विदर्भ को एक साथ जोड़ दिया है, बस इतना ही फ़र्क़ है। उसके कारण स्पष्ट हैं। यद्यपि नाम तो वे ही क़ायम रक्खे गये हैं जो कांग्रेस ने दिये हैं। परन्तु भावी विधान में उनकी सीमाएं ठीक-ठीक वे ही नहीं होंगी जो कांग्रेसीप्रान्तों की आज हैं। उदाहरणार्थ अगर सब नहीं तो कुछ ही रियासतें भारतीय संघ में शामिल होने का निश्चय कर लें तो उन रियासतों की सलाह से भाषावार प्रान्तों की सीमायें बदल जावेंगी। आज के संयुक्तप्रान्त को बड़ी आसानी से दो भागों में बांटा जा सकता है—पूर्वी और पश्चिमी। ख़ैर, यह सब काम एक ख़ास कमीशन को सौंप दिया जायगा, जिसकी नियुक्ति भारतीय विधान निर्मात्री सभा करेगी। जहां आवश्यक होगा ख़ास-ख़ास प्रदेशों की जनता की राय भी बालिग़ मताधिकार के आधार पर मत-गणना से ले ली जायगी।

शासन

प्रान्तीय पंचायत की धारा सभा होगी। वह एक ही होगी। प्रान्त और अपने मातहत प्रदेश के लिए ऊपर बताये कामों के सम्बन्ध में कानून बनाने का उसे पूरा अधिकार होगा।

पंचायत अपने अध्यक्ष का चुनाव खुद करेगी। वही पदेन प्रान्त का अधिपति भी होगा।

शासन और धारा-सभा के काम बिलकुल अलग-अलग होंगे। प्रान्तीय पंचायत भिन्न-भिन्न महकमों का संचालन करने के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति करेगी। ये मन्त्री यद्यपि होंगे तो पंचायत के प्रति पूरी तरह जिम्मेवार, परन्तु वे प्रान्तीय पंचायत के सदस्यों में से नहीं होंगे। "जहां शासन के प्रधान संचालक और धारा सभा के अगुआ लगभग वही होते हैं और शासन के संचालकों के वेतन बहुत भारी होते हैं, वहां वे सही अर्थों में पूरी तरह ज़िम्मेवार नहीं रह जाते। दलबन्दी और षडयन्त्र फैल जाते हैं और निःस्वार्थ भाव से क़ानून नहीं बन पाते।"[1] पंचायत के सदस्य सही मानों में अवैतनिक काम करेंगे।

मन्त्रियों का कार्यकाल भी तीन ही वर्ष का होगा। अयोग्यता और कर्तव्य-भ्रष्टता की अवस्था को छोड़ साधारणतया नई पंचायत के आने पर वे बदले नहीं जावेंगे।

मन्त्रियों की नियुक्तियां पार्टी या संप्रदाय के सिद्धान्त पर नहीं होंगी। प्रान्त के वे अच्छे-से-अच्छे बुद्धिमान आदमी होंगे। प्रान्त के आकार के अनुसार उनकी संख्या कम या अधिक होगी। पर वे पांच से कम और नौ से अधिक नहीं होंगे।

: ६ :

केन्द्रीय सरकार

तमाम प्रान्तीय पंचायतों के अध्यक्षों से अखिल-भारत-पंचायत बनेगी। जो प्रान्त बड़े होंगे, उनमें से अध्यक्ष के अलावा प्रान्तीय पंचायत के सदस्यों में से एक और प्रतिनिधि अखिल-भारत पंचायत में भेजा जा सकेगा।

अखिल-भारत पंचायत ही केन्द्रीय धारा सभा होगी। वह भी एक ही होगी। गोलमेज़ परिषद में दिये गये अपने भाषणों में एक में गांधीजी ने कहा था—

[1] आउट लाइन स्कीम आफ स्वराज्य—श्री देशबन्धुदास और डा० भगवानदास अध्याय ६ की टिप्पणी।

"दो-दो धारा सभाओं की पद्धति का मुझे ज़रा भी शौक नहीं है। मुझे इस बात का ज़रा भी डर नहीं कि जनता के प्रतिनिधियों की बनी धारा-सभायें मनमाने तौर पर चलेंगी, जल्दबाज़ी में क़ानून बना लेंगी और फिर बाद में उन्हें उनपर पछताना पड़ेगा। मुझे उन्हें नष्ट नहीं करना है जो उनकी निन्दा करके उन्हें मैं खत्म कर दूं। मैं तो मानता हूं कि लोक प्रतिनिधियों की बनी धारा-सभायें अपना काम अच्छी तरह कर सकती हैं। और चूंकि हमारा देश दुनिया में सबसे अधिक ग़रीब और दरिद्र है, जितना कम खर्च से हम काम ले सकें हमें लेना चाहिएं।"

अगर रियासतें भी भारतीय संघ शासन में शामिल हो जावेंगी तो उन्हें भी अखिल-भारत-पंचायत में अपने प्रतिनिधि भेजने के वही अधिकार होंगे जो प्रान्तों की जनता को होंगे। ये प्रतिनिधि वहां की लोक-प्रतिनिधियों की सभाओं के सभापति होंगे न कि नरेशों द्वारा नामज़द काठ की गुड़िया।

अखिल-भारत-पंचायत का कार्य काल भी तीन वर्ष का होगा।

कार्य

अधिक से अधिक प्रांतीय और स्थानीय स्वतंत्रता के सिद्धान्त के आधार पर अखिल-भारत-पंचायत का कार्य क्षेत्र-बहुत मर्यादित होगा। उसके काम नीचे लिखे अनुसार होंगे :

(अ) बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करना।

(आ) जरूरत के अवसरों पर काम दें इसलिए राष्ट्रीय पुलिस दलों को रखना।

(इ) प्रान्तों द्वारा बनाई गई आर्थिक उन्नति की योजनाओं का समन्वय करना।

(ई) अखिल भारतीय महत्त्व रखनेवाले महत्त्वपूर्ण उद्योगों का संचालन करना।

(उ) यातायात तथा सन्देश भेजने के अखिल भारतीय महकमों की व्यवस्था और संचालन करना।

(ऊ) चलनी सिक्के, चुङ्गी और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का नियमन करना।

(ए) अखिल भारतीय महत्त्व और उपयोग वाली बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थाओं का संचालन करना तथा सर्वत्र शिक्षा का समुचित दर्जा क़ायम रखने के सम्बन्ध में प्रान्तों का मार्ग दर्शन करना।

(ऐ) राष्ट्र की वैदेशिक नीति का निर्धारण करना।

शेष अधिकार (रेसेड्यू आफ पॉवर्स) केन्द्रीय सरकार को नहीं बल्कि संघ में शामिल होनेवाली इकाइयों के ही आधीन रहेंगे।

शासन

अखिल-भारत-पंचायत कानून बनानेवाली मुख्य धारा-सभा होगी। उसके सिपुर्द जो काम हैं, उनके सम्बन्ध में वह क़ानून बनाएगी। अखिल-भारत पंचायत का अध्यक्ष राष्ट्र का अध्यक्ष होगा। संघ-पंचायत अपने विभिन्न महकमों के संचालन के लिए मन्त्रियों को नियुक्ति करेगी। ये मन्त्री अखिल-भारत-पंचायत के सदस्यों में से नहीं होंगे। इस प्रकार क़ानून बनाने और शासन के काम बिलकुल अलग-अलग होंगे।

केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल या शासन सभा पूरी तरह से केन्द्रीय धारा सभा के प्रति ज़िम्मेवार होगी। मन्त्रियों का कार्यकाल तीन वर्ष का होगा। परन्तु अयोग्यता और कर्तव्यभ्रष्टता को छोड़ और किसी कारण से अखिल-भारत-पंचायत साधारणतया मन्त्रियों को अलग नहीं कर सकेगी। अगर कोई मन्त्री गम्भीर दुराचरण का अपराधी पाया जायगा तो उसे अपने साधारण कार्यकाल की समाप्ति के पहिले भी तुरन्त अलग हटा दिया जायगा।

मन्त्रियों की नियुक्ति में जाति, सम्प्रदाय या पार्टियों का ख़याल नहीं रक्खा जायगा। अच्छे-से-अच्छे और बुद्धिमान आदमियों की ही नियुक्ति होगी। चूंकि स्थानीय मामलों में बहुत बड़ी मात्रा में पहले ही स्वायत्तता प्रदान कर दी गई है, इसलिए धारा सभा में भी कोई विधिवत् और कठोर राजनैतिक दलबन्दी नहीं होगी। यों केन्द्रीय शासन समिति के बनाने में तमाम जातियों का और ख़ास तौर पर अल्पसंख्यक जातियों का

पूरा ध्यान रक्खा जायगा, परन्तु स्वतन्त्र भारत के भावी विधान में जातीय प्रतिनिधित्व के अनुपात की दोष-पूर्ण पद्धति को कोई स्थान नहीं होगा। वास्तव में पूर्णतया विकसित अहिंसक अवस्था को पहुंच जाने पर भारत में एक भी ऐसी अल्पसंख्यक जाति नहीं रहेगी जिसे यह शिकायत होगी कि उसकी तरफ पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है और इस कारण जो अपने आपको सारे राष्ट्र से अलग मानती होगी।

संघ के अंग

अखिल भारत पंचायत एक संघ होगा। इसमें प्रान्त और रियासतें अपनी इच्छा से शरीक होंगे। और उन्हें अपने प्रदेशों के स्थानीय प्रश्नों में अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता होगी। चूंकि भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से भारत एक और अखण्ड है, अपेक्षा यह है कि तमाम प्रान्त और रियासतें भी राष्ट्र की भलाई के लिए स्वेच्छा से इसमें शरीक हो जावेंगे। सम्मिलित राष्ट्रीय जीवन के निर्माण और विकास के लिए आवश्यक सद्भावपूर्ण वातावरण बनाने के लिए हर तरह का प्रयत्न किया जायगा। फिर भी यदि किसी प्रदेश के बालिग स्त्री-पुरुषों की यह राय हो कि उनका प्रान्त या रियासत संघ में शरीक न हो और वे अपनी इस राय को विधिवत् सिद्ध और घोषित कर देंगे तो उस प्रदेश को संघ में शरीक होने के लिए मजबूर नहीं किया जायगा। अलग होने की बात का उल्लेख जान बूझकर नहीं किया गया है यद्यपि संघ में शरीक होने की स्वतन्त्रता में अलग होने की स्वतन्त्रता का भी समावेश हो ही जाता है। यहां पर यह बता देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि सोवियट रूस में भी अलग होने का अधिकार केवल यूनियन के ग्यारह प्रजातन्त्रों तक ही मर्यादित रक्खा गया है। इन स्वयंशासित प्रजातन्त्रों की भांति अन्य अनेक छोटे-छोटे घटकों को यह अधिकार नहीं दिया गया है। फिर यूनियन के उन ग्यारह प्रजातन्त्रों को भी दिया गया अधिकार नाम मात्र का है। क्योंकि अब यह बात जग-प्रसिद्ध है कि संघ से अलग हटने की प्रवृत्तियां

सोवियट अदालतों द्वारा अत्यन्त देशद्रोह भरी और क्रान्ति की विरोधिनी मानी गई हैं।

परन्तु अहिंसा को मानने वाले एक राष्ट्र में ज़बरदस्ती और पशु-बल के द्वारा की गई ज़बरदस्ती का तो सवाल ही खड़ा नहीं होता। अगर किसी प्रदेश को यह स्वतंत्रता है कि वह चाहे तो संघ में शरीक हो या न भी हो तो अलग होने का अधिकार भी क़ानूनी रूप से अपने आप है ही। परन्तु गांधीवादी विधान के मातहत सारे वातावरण में इतनी सहिष्णुता, सद्भाव और सहयोग होगा कि अलग होने की मांग खड़ी होने की उसमें सम्भावना ही नहीं रह जायगी।

भाषा

अखिल-भारत-पञ्चायत का सारा कारोबार हिन्दुस्तानी में होगा जो नागरी और उर्दू दोनों लिपियों में लिखी जायगी।

: १० :

न्याय-विभाग

अंगरेज़ सरकार ने इस देश में न्यायदान की जो पद्धति जारी की है उसने देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन को ज़बरदस्त क्षति पहुंचाई है—तबाही ढा दी है। पुराने ज़माने में पञ्चायतें वहीं-की-वहीं दीवानी और फ़ौजदारी मामलों का फ़ैसला दे दिया करती थीं। पञ्चायतों के सामने झूठी गवाहियां देना और झूठी कसमें खाना बड़े-से-बड़े पाप मानी जाती थीं। न्याय सही-सही मिलता और सो भी कम खर्च में। इसके विपरीत आज-कल की अदालतें बड़ी खर्चीली हैं। न्याय भी जल्दी नहीं मिलता। मामूली मामलों का फ़ैसला महीनों तक नहीं होता। कभी-कभी बरसों लग जाते हैं। न्यायदान की पद्धति भी बहुत पेचीदा है वह झूठ और बेईमानी को बढ़ाती है। वकीलों की एक फौज खड़ी हो गई है, जिनके दलालों का

एक विशाल जाल-सा परिवर्ती प्रदेश में फैला रहता है। ये सब बेकार की और गिरानेवाली मुक़दमेबाज़ी को बढ़ा-बढ़ाकर गांवों से प्रति वर्ष करोड़ों रुपये चूसते और देहाती जनता की दरिद्रता को बढ़ाते रहते हैं। झूठी गवाहियां और झूठी क़समें खाना अब तो मामूली बात हो गई है। सचाई और ईमानदारी को लेकर बैठनेवाले घाटे में रह जाते हैं। अंगरेज़ों द्वारा जारी की गई इस न्याय-पद्धति से जनता में नैतिकता बढ़ी नहीं बल्कि वह नैतिकता को बेहद गिराने में प्रत्यक्ष रूप से कारणीभूत हुई है। इसलिए इस पद्धति से हम जितनी जल्दी नमस्कार कर लें उतना ही हमारा और राष्ट्र का भला है। मारिस हैलेट जैसे अत्यन्त प्रतिक्रियावादी गवर्नर तक ने हाल ही में कहीं कहा था—

"मुझे कई बार खयाल होता है कि जब से भारत-सरकार ने शासन के केन्द्रीकरण की तरफ क़दम रक्खा यह गलत रास्ते पर चल पड़ी है। इसमें हमने पुरानी पद्धति को भुला दिया जिसके अनुसार गांव अपने संगठन के लिए खुद ही जिम्मेवार होते थे। इस भूल का देश पर बड़ा बुरा असर पड़ा है। टकसाली पद्धति पर अपने शासन का संगठन करने की धुन में सरकार ने मजिस्ट्रेट-कोर्ट जैसी पश्चिमी ढंग की अदालतें सारे देश में खड़ी कर दीं। हमें खयाल भी नहीं रहा कि इनमें होने वाला बहुत-सा काम खुद गांवों में ही होना अधिक उचित था और वहां वह ज्यादा अच्छी तरह भी होता। मैं चाहता हूं कि प्रत्येक गांव या गांवों के समूह में एक-एक पंचायत हो और उन्हें तमाम छोटे-छोटे दीवानी, फ़ौजदारी, और मुल्की मामले निपटाने के अधिकार दे दिये जावें।"[1]

ग्राम-पंचायतें

न्यायदान का काम ग्राम-पंचायतों के सिपुर्द ही होगा। इसके लिए अलग न्यायकारी पंचायतों की ज़रूरत नहीं है। ग़रीब ग्रामीणों को अपने मामले निपटाने के लिए गांव से बाहर जाकर अपनी गाढ़ी कमाई के पैसे और हफ्ते और महीने बरबाद नहीं करने पड़ने चाहिएं। ग्राम-पंचायतों

१ 'हिन्दुस्तान टाइम्स' २२ अक्तूबर सन् १९४२

में ही यह काम होने लग जायगा तो उन्हें तुरन्त सस्ता, और कारगर न्याय मिलने लग जायगा।

ग्रामीण को तमाम ज़रूरी गवाह गांव में ही मिल जाते हैं और बग़ैर अधिक ख़र्च के वह अपने मामले लड़ सकता है। उसे वकीलों पर अपना धन बरबाद नहीं करना पड़ता। वहां झूठे गवाह तुरन्त पकड़े जा सकते हैं। अगर कभी कोई पेचीदा मामला पंचायत में पेश हो तो तहसील या ज़िले से कोई सब-जज वहां जाकर पंचायतों की सहायता कर सकता है। राज के कानूनों का समय-समय पर परिचय देकर वह अज्ञानी ग्रामीण जनता के लिए मार्ग-दर्शक, मित्र और गुरु का काम भी कर सकता है।

न्याय की यह पद्धति न केवल सरल होगी बल्कि सस्ती भी होगी। न्याय वहां तुरन्त और ठीक-ठीक भी मिलेगा। क्योंकि दीवानी और फ़ौजदारी मामलों की तफ़सीलों से तो सारा गांव परिचित होता है, वहां झूठ-फ़रेब तथा क़ानूनी बाज़ीगरी के लिए कोई अवकाश ही नहीं होगा। ग्रामीण जनता को सही ढंग की क़ानूनी शिक्षा मिलेगी सो अलग।

ज़िला कोर्ट

चूंकि ग्राम-पंचायतों को न्यायदान के विषय में व्यापक दीवानी और फ़ौजदारी अधिकार होंगे इसलिए तहसील कोर्टों की कोई ज़रूरत ही नहीं रहेगी। ख़ास-ख़ास मामलों में अगर अपील करने की ज़रूरत हो तो लोग गांवों से सीधे ज़िले की कोर्ट में जा सकते हैं। क़स्बों के मामले भी इन ज़िला-कोर्टों में ही जावेंगे। इन अदालतों के न्यायाधीश ज़िले की शासन-संस्था से पूर्णतया स्वतन्त्र होंगे। इनकी नियुक्ति ज़िला-पंचायतें करेंगी और अपने कार्यकाल में जबतक वे अपने कर्तव्य का पालन ठीक तरह से करते रहेंगे इन्हें कोई हटा नहीं सकेगा।

हाई-कोर्ट

बहुत ही कम—अपवादात्मक मामलों की अपील ज़िला कोर्ट से हाईकोर्ट में जा सकेंगी। हाई-कोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रान्तीय

पंचायतें करेंगी। शासन विभाग से वे स्वतन्त्र हों। और जब तक अपने कर्तव्य का ठीक तरह पालन करते रहेंगे उन्हें कोई हटा न सकेगा।

सर्वोपरि न्यायालय

भारत का सर्वोपरि न्यायालय देश में न्याय-विभाग की सबसे ऊंची सत्ता होगी। उसके काम ये होंगे—

(अ) हाईकोर्ट के निर्णय पर की गई अपीलों की सुनवाई करना।

(आ) संघ के अंगभूत प्रादेशिक घटकों के बीच उपस्थित होने वाले झगड़ों में विधान सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय देना।

(इ) विधान में वर्णित मौलिक अधिकारों के पालन पर ज़ोर देकर अल्प संख्यकों—अगर तब कोई रह जाय तो—के हितों की धर्म-भावना पूर्वक रक्षा करना।

इस न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति अखिल-भारत-पंचायत द्वारा होगी। अत्यन्त चरित्रवान और सर्वोत्तम गुण एवं योग्यतावाले तथा जाति, धर्म एवं पार्टियों के राजनैतिक पक्षापक्ष से जिन्होंने अपने आपको ऊपर रक्खा होगा, ऐसे ही व्यक्तियों की नियुक्ति इस स्थान पर होगी।

: ११ :

चुनावों की पद्धति

पिछले अध्यायों में पाठकों ने देखा ही होगा कि इस विधान में ग्राम-पंचायतों के चुनावों में तो सीधे चुनाव की पद्धति रक्खी गई है और तहसील, ज़िला, प्रान्त और अखिल-भारत-पंचायत के चुनावों की पद्धति अप्रत्यक्ष रक्खी गई है। इस प्रणाली में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार की चुनाव पद्धतियों के लाभ एकत्र हो गये हैं। गांवों को अधिक-

से-अधिक स्वतन्त्रता होगी, अतः वहां प्रत्यक्ष चुनाव रक्खे गये हैं। और चूंकि ऊपर के अन्य संगठन पर सलाह देने तथा नीचे के संगठनों के काम का समन्वय करने मात्र का भार रहेगा, इसलिए उनके लिए अप्रत्यक्ष चुनाव की पद्धति ही अधिक उपयोगी होगी। भारतवर्ष जैसे महान विस्तारवाले देश में प्रत्यक्ष चुनावों से राष्ट्र की संपत्ति, समय और शक्ति की भयंकर बरबादी होती है। अतः अप्रत्यक्ष चुनाव की पद्धति जारी करने से अनायास ही इसकी बड़ी बचत हो जायगी। राजनैतिक दल-बन्दियों और साम्प्रदायिक कटुता का भी अपने आप नियन्त्रण हो जायगा। और चूंकि ये अप्रत्यक्ष चुनाव भी बहुत थोड़े ज़िम्मेवार लोगों तक ही सीमित रहेंगे, अतः रिश्वतख़ोरी और अन्य प्रकार की बुराइयों के लिए बहुत कम अवकाश रह जायगा। इसके अलावा ऊपर के संगठनों के प्रतिनिधि अपने क्षेत्रों को भी नहीं भुला सकेंगे, क्योंकि उनका प्रतिनिधित्व इन नीचे की पंचायतों पर ही निर्भर रहेगा। क्योंकि इस विधान के अनुसार नीचे की पंचायत का सभापति या अध्यक्ष ऊपर की पंचायत का पदेन सदस्य होगा, इस प्रकार प्रत्यक्ष अखिल-भारत-पंचायत का सभापति भी मूलतः अपने गांव की पंचायत का सभापति होगा। साथ ही वह तहसील, ज़िला और प्रान्तीय पंचायतों का भी सभापति होगा। इसलिए उसे जनता की तकलीफ़ों और ज़रूरतों का खूब अच्छा ज्ञान होगा। वह निरा पोशाकी नेता नहीं होगा। अगर किसी ऊची पञ्चायत का सदस्य अपनी प्राथमिक पञ्चायत के प्रति नागरिक धर्म का ठीक तरह से पालन नहीं करेगा तो दूसरे चुनाव में उसके चुने जाने की सम्भावना नहीं रहेगी। असल में उसे वापिस भी बुलाया जा सकता है। ऐसी सूरत में वह ऊपर की तमाम पञ्चायतों से हटने पर वह अपने आप हट जायगा। और चूंकि गांवों के मतदार संघ बहुत छोटे होंगे और चुनावों के लिए खड़े होने वाले उम्मीदवारों का सबको सीधा और पूरा-पूरा परिचय रहेगा इसलिए दूसरे चुनावों में होने वाली गन्दगी और धोखेबाज़ी के लिए कोई अवकाश नहीं होगा।

मताधिकार

मताधिकार और मतदाता की पात्रताओं का प्रश्न तो केवल ग्राम-पञ्चायतों के चुनावों में ही खड़ा होगा। गांवों में चुनाव बालिग़ मताधिकार की पद्धति पर होंगे। उसमें जात-पांत, धर्म, लिंग, विश्वास, सामाजिक दर्जा, माली हालत या पढ़ाई वग़ैरा की कोई क़ैद नहीं होगी। वोटर का साक्षर होना भी अनिवार्य नहीं होगा। गांधीजी का तो कथन है कि—

"मैं तो इस कल्पना को भी बरदाश्त नहीं कर सकता कि एक आदमी, जिसके पास धन है, उसे तो वोट देने का अधिकार हो, पर जो चरित्रवान है; किन्तु जिसके पास धन नहीं या जो साक्षर नहीं, उसे न हो। इसी प्रकार जो ईमानदारी से काम करके, रोज़ पसीना बहाकर अपनी रोज़ी कमाता है, उसे भी वोट देने का अधिकार इसलिए न हो कि वह ग़रीब है। मैं साक्षरता का भी इतना क़ायल नहीं कि वोटर को पढ़ने-लिखने और हिसाब का ज्ञान हो। हिन्दुस्तानियों को कम-से-कम इतना ज्ञान तो ज़रूर हो, पर मैं यह भी जानता हूँ कि अगर हमें तब तक ठहरने के लिए कहा जाय तो सदियां बीत जावेंगी जिसके लिए मैं हरगिज तैयार नहीं।"[1]

विशेष पात्रतायें

पंचायतों के पदाधिकारियों के लिए यद्यपि कोई ख़ास कड़ी मर्यादायें नहीं होंगी, फिर भी उम्मीदवारों के पक्ष में वोट देते समय वोटर नीचे लिखी योग्यताओं का ख़ास तौर पर ध्यान रक्खेंगे—

(अ) साक्षरता और सामान्य शिक्षा
(आ) नागरिक जीवन का परिपक्व अनुभव
(इ) आर्थिक स्वतन्त्रता (जिससे रिश्वतखोरी का भय न हो)
(ई) ग्रामीण जनता की निस्वार्थ और सच्ची सेवा।

इस मौक़े पर उम्मीदवारों के पक्ष में किसी भी प्रकार का प्रचार एक निश्चित बुराई और अयोग्यता का सबूत माना जाना चाहिए। पंचायत

१ राउन्डटेबल कान्फरेन्स में दिया गया भाषण।

की सदस्यता निरे सम्मान या स्वार्थपूर्ति का साधन नहीं; बल्कि एक गम्भीर जिम्मेवारी समझी जावे।

संयुक्त मतदान

चूंकि विधान में व्यापक और विस्तृत मौलिक अधिकार दे दिये गये हैं; जातीय और पृथक् मतदान की अब जरूरत नहीं रहनी चाहिए। असल में पृथक् मतदान की पद्धति, जिसका प्रारम्भ इस देश में अंगरेज् नौकरशाही द्वारा हुआ है, जातीय भेद-भाव और कटुता का बुनियादी कारण रही है। इस प्रश्न पर 'अल्प संख्यकों की समस्या' शीर्षक अध्याय में अधिक विस्तार से विचार किया गया है। यहां तो केवल इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि स्वतन्त्र भारत के विधान में प्रतिनिधित्व का आधार संयुक्त मतदान की पद्धति ही रहेगी।

पर्चियां डालकर चुनाव

उत्तरामल्लूर के शिलालेख में प्राचीनकाल में होनेवाले चुनावों की एक बड़ी ही मनोरंजक पद्धति का पता लगा है—

"चुनाव के लिए गांव, ३० मतदार संघों (वार्डों) में बांट दिया जाता। प्रत्येक वार्ड में सभा होती, जिसमें वहां के निवासी एकत्र होते। यहां सभा द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार पात्रता का ध्यान रखकर मतदाता अपने मन के किसी आदमी का नाम एक पर्ची पर लिख देता। इन चिट्ठियों को वार्डवार तीस लिफ़ाफ़ों में अलग-अलग बन्द कर दिया जाता। और प्रत्येक लिफ़ाफ़े पर उस वार्ड का नाम लिख दिया जाता इसके बाद इन लिफाफों को एक बर्तन में रखकर गांव की भरी सभा के बीच में रख दिया जाता, जिसमें छोटे से लेकर बड़े तक उपस्थित रहते थे। सभा में गांव के मन्दिरों के सभी पुरोहित भी, जो उस दिन गांव में हाज़िर होते निरपवाद रूप से मन्दिर के अंतर्गृह में उपस्थित रहते। फिर ब्राह्मण-पुरोहितों के बीच में से सबसे वृद्ध पुरुष अपनी आंखों को ऊपर रखते हुए इस बर्तन को इस तरह उठाकर खड़ा होता, जिससे उसे सब देख सकें। फिर एक छोटे से बच्चे को बुलाया जाता, जो

नहीं जानता था कि बर्तन में क्या है। उसे इस बर्तन के अन्दर के लिफ़ाफ़ों में से एक को उठाने के लिए कहा जाता। वह ऐसा ही करता। तब इस लिफ़ाफ़े के अन्दर की पर्चियों को दूसरे ख़ाली बरतन में रखकर खूब हिलाया जाता। बच्चे से फिर इनमें से एक पर्ची उठाने के लिए कहा जाता। लड़का एक पर्ची निकालता और उस मध्यस्थ ब्राह्मण को देता। वह ब्राह्मण इस पर्ची को अपनी खुली हथेली पर ग्रहण करता। फिर उसमें लिखे नाम को पढ़ता। इसके बाद अन्तर्गृह में बैठे सभी ब्राह्मण पर्ची में लिखा नाम ज़ोर से पढ़ कर सुनाते। इसी प्रकार प्रत्येक वार्ड के प्रतिनिधि का चुनाव होता।"[1]

यद्यपि इस प्रकार पर्ची डालकर चुनाव करने की पद्धति पूर्णतया जनतन्त्री तो नहीं कही जा सकती, परन्तु गांव के सामाजिक जीवन में इससे सद्भाव और शुद्धता की रक्षा तो ज़रूर होती थी। आधुनिक चुनावों में जो कटुता और द्वेष भाव पैदा हो जाते हैं उनका तो तब सर्वथा अभाव होता था। यह प्राचीन पद्धति कुछ फेरफारों के साथ पुनः शुरू की जा सकती है। उदाहरणार्थ पहले खुले या लिखित वोटों द्वारा एक निश्चित संख्या में चुने जाने लायक़ व्यक्तियों के नाम जान लिये जावें और उसके बाद इस सूची में से एक आदमी का नाम पर्ची डालकर निश्चित कर लिया जाय। इसमें कोई दोष न होगा, क्योंकि पैनेल में आये सभी व्यक्तियों की योग्यता लगभग एकसी ही होगी। यह पद्धति जनतन्त्री और शान्तिपूर्ण भी है; अतः यह इष्ट है कि शासन के जितने अंगों में हम इसको शुरू कर सकें हमें करने का यत्न करना चाहिए।

: १२ :

रियासतें

भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के मार्ग में मौजूदा रियासतें सबसे बड़ी

१ "लोकल गवर्नमेंट इन एन्शियन्ट इन्डिया"–डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी पृ० १७१-७२।

रुकावटों में से एक हैं। अंगरेज़ सरकार के हाथों में वे दुधारी तलवारों का काम दे रही हैं। सारे देश की वैधानिक प्रगति की योजनायें जब कभी पेश की जाती हैं, उन्हें यह कहकर उड़ा दिया जाता है कि देशी रियासतें स्वतन्त्र सत्तावाली संस्थायें हैं, जिनके साथ ब्रिटिश सरकार संधियों द्वारा बंधी हुई है। दूसरी तरफ रियासतों के अन्दर पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग को भी इस बहाने से ठुकराया जाता है कि नरेश सार्वभौम सरकार के प्रति जिम्मेवार हैं जिसकी मंजूरी के बग़ैर रियासतों के अन्दर कोई भी महत्त्वपूर्ण सुधार जारी नहीं किये जा सकते। इस प्रकार जहां एक तरफ़ नरेशों को निरे "सम्मानित सामन्तों" की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया गया है तहां, राष्ट्रीय भारत के सामने उन्हें भावी विधान के बनाने में "एक ज़बरदस्त समस्या" के रूप में पेश किया जाता रहा है। वास्तव में उनके साथ जो सन्धियां हुई हैं, उनका मूल्य तो अब जिस काग़ज पर वे लिखी हैं उतना भी नहीं रह गया है। वे तो मुख्यतया या पूरी तरह से सार्वभौम सत्ता को मज़बूत बनाने के लिए दी गई जागीरें मात्र हैं। सन्धियां तो गम्भीर वचन हैं, नरेशों को उन पर ज़रूर अमल करवाना चाहिये इत्यादि दलीलें देने वाले वकील भी ज़रूर मिल जावेंगे। परन्तु ये बौने राक्षसों द्वारा उन सन्धियों पर कैसे अमल करवावेंगे ?[1]

फिर रियासतों की सीमायें भी सोच समझकर नहीं कायम की गई हैं। उनके पीछे भाषा, संस्कृति या आर्थिक कोई आधार नहीं। अनेक दृष्टियों से भारतवर्ष सचमुच एक इकाई है। इसलिए रियासतों के प्रदेशों को प्रान्तों में मिलाकर संघ के विभिन्न अंगों की सीमायें हमें नये सिरे से निर्धारित करनी होंगी। अगर अंगरेज़ उन तथा कथित सुलहनामों को रद मान लें या उन्हें स्वतन्त्र भारत की सरकार को सौंप दें, तब तो अच्छा ही है। अगर खुद नरेश उन सुलहनामों से अपने आपको मुक्त कर लें और देश की जनता के साथ हो जावें तो और भी अच्छा। पर

१ हरिजन, १६-१२-३६।

अगर इनमें से कुछ भी न हो तो यह सिद्ध होगा कि भारत के विषय में अंगरेज सरकार की नीयत साफ़ नहीं है।

सर जार्ज शुस्टर ने लिखा है—"संघ योजना हमारे सामने यह आशा भरी सम्भावना पेश करती है कि रियासतों के शासन में काफ़ी उदारता आ जायगी तथा वह समयानुकूल भी बन जायगा। यही नहीं, सारे देश के राजनैतिक ढांचे में एक प्रकार की निश्चित स्थिरता भी आ जावेगी। इसके अलावा भारतवर्ष के इन दो हिस्सों के सामाजिक और आर्थिक जीवन परस्पर इस प्रकार घुले-मिले हैं और अंगरेज़ी इलाक़ा भी रियासती इलाक़ों से इस क़दर ताने-बाने की तरह गुंथा हुआ है कि अगर केन्द्र में किसी ऐसी सरकार की स्थापना हो गई कि जिसमें रियासतें शरीक नहीं हैं तो अक्सर संघर्ष की रहेगी ही।... अन्त में खुद नरेशों के हित की दृष्टि से देखा जाय तो भी यह बलपूर्वक कहना होगा कि नरेशों को अपने राज्यों का शासन ऐसे आधारों पर क़ायम करना चाहिए जिनमें उदारता हो और जिनकी तरफ़ किसी को अंगुली उठाने की भी गुंजाइश न मिले।"[1]

ईमानदारी से अगर इस उद्धरण का अर्थ लगाया जाय तो यह नरेशों को एक प्रकार का निमन्त्रण है कि वे समय को पहचानें और अंगरेजों की संगीनों की छाया में जनता पर डिक्टेटरों की भांति निरंकुश सत्ता चलाने के बजाय जनता का साथ दें। जब तक जनता अहिंसा के पुण्य-धर्म को मानती है, नरेशों को जनता से किसी प्रकार के अशुभ की आशंका नहीं करनी चाहिए। अगर वे चाहते हों कि उनके साथ न्याय हो तो वे अपने ही सद्गुणों का भरोसा करें। वे खुद अच्छे आदमी बनें। पर हां, वे यह भी निश्चित रूप से जान लें कि उनकी वर्तमान निरंकुशता हरगिज़ नहीं चल सकेगी। गांधीजी के शब्दों में यह "दोहरी गुलामी" है।

१ **"इण्डिया एण्ड डेमाक्रसी"—जार्ज शुस्टर अंड जे विन्ट** पृ० ३६५-३६६।

: १३ :

राष्ट्र-रक्षा

सभी जानते हैं कि अहिंसा के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार कितने निश्चित हैं और वे उन पर कितने दृढ़ हैं। वे मानते हैं कि हिंसा की अपेक्षा अहिंसा अनंत गुनी श्रेष्ठ है। वे तो चाहेंगे कि स्वतन्त्र भारत बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए भी सशस्त्र फौजें न रक्खे। वे चाहते हैं कि हिन्दुस्तान अपने अन्दर अहिंसा के अनुशासन का विकास करे और बाहरी आक्रमणों का बहादुरी के साथ तथा सफलता पूर्वक मुक़ाबला करे। उस कठिन समय में जब कि ब्रिटेन एकदम लाचार हो गया था और निराश होकर इस भय में बैठा था कि अभी हिटलर आकर उसे निगलने जा रहा है, गांधीजी ने अपनी अकेली, किन्तु शक्तिशाली आवाज हिंसक विजय के खिलाफ़ उठाई और साहस पूर्वक ब्रिटेन को सलाह दी कि वह जर्मन आक्रमणों का निःशस्त्र प्रतिकार करे।

"मैं चाहता हूं कि आप अपने इन हथियारों का त्याग कर दें। आपकी और मनुष्य जाति की वे रक्षा करने में असमर्थ हैं। इसके बजाय आप हेर हिटलर और सिन्योर मुसोलिनी को निमन्त्रण देकर बुलावें और आप जिन प्रदेशों को अपने मानते हैं उनमें से जितनों को वे चाहें उन्हें लेने दें। उन्हें अपने सुन्दर द्वीप पर भी, जहां कितनी ही सुन्दर इमारतें हैं, भले ही अधिकार कर लेने दें। हां, आप अपनी आत्मा और दिल को छोड़ उन्हें ये सब दे दें।"

अपने समस्त इतिहास में ब्रिटेन जिस समय एक अत्यन्त नाजुक समय में से गुज़र रहा था गांधीजी को छोड़ और कौन 'टू एवरी ब्रिटेन' (हरेक अंगरेज से) शीर्षक ऐसी संस्मरणीय और अमर अपील जारी कर सकता था! उन्होंने इस बात की भी परवाह नहीं की कि कहीं दुनियां मुझे हंसेगी तो नहीं और अपने दिल के गहरे और सच्चे भाव प्रकट कर दिये। शस्त्रों की दो-दो विजयों की निःसारता इन दो खून, पसीना और आंसुओं की

नदियां बहाने वाले महाभयंकर महायुद्धों ने स्पष्ट रूप से प्रकट कर दी। नेपोलियन को पराजित करने का अपूर्व सम्मान पानेवाले ड्यूक ऑव वेलिंगटन ने कहा था "पराजय को छोड़ विजय से अधिक भयंकर चीज़ मैंने आज तक नहीं देखी।" ड्यूक की इन अत्यन्त अर्थपूर्ण भविष्यवाणी को संसार भुला देगा तो उसे बुरी तरह पछताना होगा। वह अटलांटिक चार्टर भी अब तो मर चुका, पर उसमें भी यह मंजूर किया गया था कि "संसार के तमाम राष्ट्रों को वास्तविकता की दृष्टि से या आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी पशुबल के त्याग पर ही आना होगा।" और अब तो वैज्ञानिक प्रगति रहस्यमय परमाणु बम तक जा पहुंची है। वह हमें मजबूर करेगी कि अब हम हिंसा के मार्ग को छोड़ कर बहादुरों की अहिंसा का विकास करें। निर्भय और सबल अहिंसा परमाणु बम से भी भयंकर अस्त्र का मुक़ाबला कर सकती है, क्योंकि अहिंसक योद्धा तो पराजय को नहीं जानता। जो राष्ट्र सचमुच अहिंसक है वह उन्मत्त आक्रमणकर्ता के सामने झुक कर, उसकी मातहती और वफ़ादारी मंजूर करने के बजाय हंसते हुए मर-मिटना पसन्द करेगा।

परंतु गांधीजी स्वप्नदर्शी नहीं हैं। वे अत्यन्त उच्च-कोटि के यथार्थ-वादी और व्यावहारिक आदर्शवादी हैं। अपने देश की मर्यादाओं को वे खूब अच्छी तरह जानते हैं। अगर भारत केवल अहिंसक फौज को ही रखना मंजूर करले तो उन्हें सचमुच बड़ा सुख होगा, परतु वे जानते हैं कि यह आदर्श तत्काल साध्य होने लायक़ नहीं है। "हिन्दुस्तान विवश होकर अपनी बेइज्जती होती देखता रहे इसके बजाय तो मैं यह पसन्द करूंगा कि वह शस्त्र धारण करके अपने सम्मान की रक्षा करे।"[1] वे कहते हैं—

"आह! आज मेरे स्वराज्य में सिपाहियों के लिए स्थान है। स्वराज्य में हम बुद्धिमान, अनुशासन-बद्ध और शिक्षित पुलिस दल भी रक्खेंगे। और वह भीतरी शांति की रक्षा करेगा और देश को बाहरी आक्रमणों से भी

1 यंग इंडिया, ११-८-१९२०

बचावेगा, अगर तब तक मैंने या और किसी ने इनमें से किसी का भी प्रतिकार करने का कोई दूसरा अच्छा रास्ता नहीं ढूँढ़ निकाला।"[1]

गांधीजी की कल्पना में भारत की रक्षा के लिए एक राष्ट्रीय पुलिस का दल काफी होगा। वह आज की फ़ौज और पुलिस दोनों से भिन्न होगा।

"उसमें अहिंसा के मानने वाले सिपाही होंगे। वे जनता के मालिक नहीं सेवक होंगे। उनके पास किसी क़िस्म के हथियार भी ज़रूर होंगे, पर इनका उपयोग यदि करना ही पड़ा तो बहुत क्वचित् ही किया जायगा। असल में पुलिस के आदमी सुधारक होंगे।"[2]

राष्ट्रीय पुलिस पर अ० भा० पंचायत का पूरा नियन्त्रण होगा। वह एक सेनापति की नियुक्ति करेगी। वही राष्ट्र रक्षा के महकमे का संचालन करनेवाला मन्त्री भी होगा। राष्ट्रीय पुलिस दल में केवल भारतीय ही होंगे, यद्यपि समय-समय पर विदेशियों से आवश्यक विशेष सलाह भी ली जा सकेगी।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले भावी विधान में राष्ट्र-रक्षा के प्रश्न का तुलनात्मक दृष्टि से क्या महत्त्व है, इस पर विचार कर लेना ज़रूरी है। यद्यपि इस युद्धरत संसार में राष्ट्र रक्षा का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथापि गांधीजी के कल्पनागत स्वतन्त्र भारत में हमें आक्रमणों से इतना नहीं डरना चाहिए। इसके कारण ये हैं:—

(अ) भौगोलिक और सामाजिक दृष्टि से भारतवर्ष की स्थति ऐसी है कि उस पर कभी कोई एक राष्ट्र बग़ैर संसारव्यापी महायुद्ध को निमन्त्रण दिये आक्रमण ही नहीं कर सकता।

(आ) भारतवर्ष अपना भीतरी आर्थिक संगठन पूर्णतया स्वावलम्बन के आधार पर क़ायम करेगा। दूसरे देशों पर वह कभी अपना साम्राज्य क़ायम करना नहीं चाहेगा और न उसे विदेशी बाज़ारों

१ 'यंग इण्डिया' ७-५-१९२५

२ हरिजन—१-८-१९४०

को अपने कब्जे में करने की दौड़ में शरीक होना है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय-संघर्ष की संभावनाएं काफी घट जाती हैं।

(इ) चूंकि स्वावलम्बी ग्राम-पद्धति वाले भारत में वैदेशिक व्यापार के लिए बहुत कम अवकाश होगा, विदेशी सत्ताओं को इस देश पर आक्रमण करने के लिए प्रलोभन भी बहुत कम होंगे।

इसके अलावा अगर गांधीजी के प्रेरक नेतृत्व में भारत कहीं अहिंसक साधनों से आज़ाद होगया तो वह संसार के युद्धमान राष्ट्रों के बीच में निश्चित रूप से सद्भाव और शान्ति की ज़बरदस्त शक्तियों को संचालित कर देगा। जैसा कि गांधीजी कहा करते हैं, भारत की स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन का सीधा अर्थ होगा अनाक्रमण और आंतर्राष्ट्रीय सद्भाव।

: १४ :

अल्प संख्यकों की समस्या

अल्प संख्यकों की समस्या केवल हिन्दुस्तान की राजनीति की ही विशेषता नहीं है, यह समस्या तो सभी जगह है। संसार के प्रत्येक राज्य में थोड़ी बहुत मात्रा में बे-मेल तत्व रहते ही हैं और प्रत्येक देश में छोटी संख्या वालों के अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं के अनुसार उचित रक्षा की गई है। परन्तु अंगरेजी सरकार अपनी तोड़-फोड़ की सनातन साम्राज्यवादी नीति के अनुसार हिन्दुस्तान के साम्प्रदायिक सवाल को भड़कीले रंगों से रंगती आई है, और संसार को यह बताती रही है कि यहां के हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से हमेशा लड़ते रहते हैं; और यह कि कहीं अंगरेज़ यहां से चले गये तो देश में तुरन्त गृह-युद्ध छिड़ जायगा। उनकी क़िस्मत भी काफ़ी तेज़ है। जिन्ना साहब जैसे एक

अच्छे साधन भी उन्हें मिल गये, जो जान में या अनजान में उनके हाथों में, ठीक उनकी योजना के अनुसार खेलते रहते हैं।

हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या का अगर ध्यान से अध्ययन किया जाय तो मालूम होगा कि अंगरेज लोग हिन्दुस्तान की राजनीति में साम्प्रदायिकता का ज़हर बिल्कुल पद्धति-पूर्वक फैलाते रहे हैं। उन्नीसवीं सदी के अंत तक यह सरकार मुसलमानों का बहुत शक करती रही है, क्योंकि उसने उनसे यहां की राजसत्ता छीनी थी। परन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ में उसने जान लिया कि हिंदू-मुसलिम एकता उसके साम्राज्य के लिए कितनी खतरनाक चीज़ साबित होगी। इसलिए इसके बाद से विदेशी राज्यकर्ताओं ने खूब सोच-समझ कर।योजना पूर्वक इस देश में साम्प्रदायिक वैमनस्य के बीजों का बोना शुरू कर दिया। सन् १६०६ के अक्तूबर की पहली तारीख हमारे देश के इतिहास में वह अशुभ दिन था जब कि हिज़ हाइनेस आगा खां के नेतृत्व में एक शिष्ट मण्डल तत्कालीन वाइसराय लार्ड मिण्टो की सेवा में उपस्थित हुआ। हिज़ हाइनेस आगा खां ने उनको एक मानपत्र समर्पित किया और शिष्ट-मंडल ने वाइसराय से विनती की कि वे मुसलमानों को स्थानीय, प्रान्तीय और केन्द्रीय चुनावों में एक स्वतन्त्र जाति मान लें। स्वर्गीय मौलाना मोहम्मद अली ने इस शिष्ट मण्डल को कठपुतली का खेल कहकर बहुत कड़े शब्दों में निन्दा की थी! और अब तो यह बात दस्तावेजों से सिद्ध होगई कि इस शिष्ट मण्डल के पीछे कुछ अंगरेज़ अफसरों की प्रेरणा थी। शायद उसका मसविदा मि० आर्च-बाल्ड ने तैयार किया था जो उस समय अलीगढ़ कालेज के प्रिन्सिपल थे। शिष्ट-मण्डल को लार्ड मिण्टो ने जवाब दिया--"मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूं।" और उन्होंने इस अभागे देश में पृथक् निर्वाचन का प्रारम्भ कर दिया। लार्ड मोर्ले चाहते थे कि अल्प संख्यक जातियों के लिए कुछ जगहें ज़रूर सुरक्षित रख दी जायं, पर चुनाव तो सम्मिलित ही हों। उन्होंने लार्ड मिण्टो को लिखा :—

"मुसलमानों के सम्बन्ध में हमारे बीच जो मतभेद है, उसे मैं नहीं बढ़ाऊंगा। सिर्फ मैं एकबार आदर पूर्वक आपको यह दिखा देना चाहता हूं कि मुसलमानों को भड़काने वाली सबसे पहली चीज़ शुरू में दिया गया आपका भाषण ही था।"[1]

रैम्से मैकडोनल्ड ने अपनी किताब "अवेकनिंग इन इण्डिया" में भी अपनी यह स्पष्ट राय जाहिर की है कि हिंदुस्तान में जातीयता के आधार पर चुनाव जारी करने की पद्धति की ज़िम्मेवारी अंगरेज़ अफ़सरों पर है। भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता में विघ्न खड़ा करने वाली यह घटना कैसे घटाई गई इसपर नीचे लिखे उद्धरण से काफ़ी प्रकाश पड़ता है। लेडी मिंटो को किसी ऊंचे अंगरेज़ अफ़सर ने एक पत्र लिखा था, उसमें से उन्होंने अपनी डायरी में यह नोट किया है। पत्र में लिखा है—

"मैं आप को एक लाइन में यह भी लिख दूं कि आज एक बहुत बड़ी राजनीतिज्ञता की बात हो गई है, जिसका असर हिन्दुस्तान के इतिहास पर कई वर्षों तक रहेगा। सवा छः करोड़ की सारी आबादी को राजद्रोही विरोध से खींचकर अलग करनेवाला यह एक ज़बरदस्त काम हुआ है।"[2]

इस आरोप को खुद सरकारी काग़ज़ों में भी मंज़ूर किया गया है। विधान-संशोधन के लिए भेजे गये सायमन कमीशन की 'इण्डियन सेंट्रल कमिटी' ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि "उस समय पृथक् निर्वाचन के लिए खुद मुसलमानों की तरफ से कोई मांग नहीं थी। उन्होंने तो यह तब पेश की जब एक अंगरेज़ अफ़सर ने, जिसका नाम प्रसिद्ध है, उन्हें उकसाया।" (पृ ११७)

इस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो खाई पैदा की गई, उसे पाटने के लिए सच्चे दिल से उठाया गया पहला सफल क़दम सन्

१ **वाइकाउन्ट मोर्ले—रिकलेक्शन्स जिल्द दूसरी पृ० ३८५।**

२ **"न्यू अप्रोच टु दी काम्यूनल प्राब्लेम" में उद्धृत—डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी—पृ० ४**

१९१६ का लखनऊ पैक्ट था। परन्तु सरकार ने इसे अपनी पुरानी तरकीब से अर्थात् इस पैक्ट में मुसलमानों को जो कुछ दिया गया था उससे ज्यादह देकर इस पैक्ट को तुरन्त असफल कर दिया। सन् १९१९ के माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों में साम्प्रदायिक चुनावों के प्रति बड़े-बड़े शब्दों में नापसन्दगी ज़ाहिर करते हुए भी, उसी ज़हरीली पद्धति को क़ायम रक्खा गया जो कि बदक़िस्मती से आज तक जारी है। पृथक निर्वाचन और धारासभाओं में जातियों के लिए ख़ास संख्या में जगहें सुरक्षित रखने तथा मुसलमानों के लिए विशेष रूप से उत्तरोत्तर अधिक जगहें (वेटेज) बढ़ाते रहने की नीति का ही स्वाभाविक और तर्कसम्मत परिणाम यह पाकिस्तान की मांग है। इसलिए पाकिस्तान का पिता इक़बाल, रहमत अली या जिन्ना नहीं, बल्कि लार्ड मिण्टो है।[1]

इन पृष्ठों में पाकिस्तान के हौवे का परीक्षण करने की जरूरत नहीं है। इस विषय पर काफी साहित्य भरा पड़ा है।[2] जिज्ञासु पाठक उसे पढ़ लें। यहां पर तो इतना ही कह देना काफ़ी है कि पाकिस्तान का यह नारा एक-दम अव्यावहारिक है। न उसमें बुद्धि है, न भलाई। हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग राष्ट्र हैं, यह बात ही किसी की बुद्धि को नहीं पाट सकती।

"हिन्दुस्तान के टुकड़े-टुकड़े हों यह असह्य है। हिन्दू धर्म और इस्लाम को संस्कृति और सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं इस कल्पना के खिलाफ़ मेरी सारी आत्मा बग़ावत करती है। इस विचार के खिलाफ़ मुझे

१ सन् १९३३ में केम्ब्रिज के रहमतअली नामक एक पंजाबी ग्रेज्युएट ने पाकिस्तान शब्द का आविष्कार किया। यह पंजाब, अफ़-गानिस्तान, काश्मीर, सिन्ध और बलूचिस्तान इन पांच प्रदेशों के नामों से अक्षर लेकर बनाया गया है।

२ इस विषय पर पाठक नीचे लिखी किताबें ख़ास तौर पर पढ़ें—

१ कम्यूनल ट्रायंगल—अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन।

२ इंडिया डिवाइडेड—राजेन्द्रप्रसाद।

३ पाकिस्तान ऑर पार्टिशन ऑफ इंडिया—डॉ० अम्बेडकर।

बग़ावत करनी पड़ेगी कि करोड़ों हिन्दुस्तानी, जो अभी तक हिन्दू थे, इस्लाम का स्वीकार करते ही अलग राष्ट्र बन गये।"[1]

फिर पाकिस्तान से अल्पसंख्यकों का सवाल भी तो हल नहीं होता। इससे तो वह उलटा और अधिक उलझता है। इसके मान लेने के बाद पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के करोड़ों हिन्दू और मुसलमान फिर अपने-अपने अधिकारों की रक्षा की आवाज उठावेंगे। हिन्दुस्तान के टुकड़े-टुकड़े करने पर देश-रक्षा की दृष्टि से राष्ट्र बड़ा कमजोर हो जायगा। आर्थिक हानि भी जबरदस्त होगी, और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भी हिन्दुस्तान एक बहुत छोटी शक्ति रह जायगा। प्रो० कूपलैण्ड लिखते हैं---"हिन्दुस्तान का संयुक्त राष्ट्र आनेवाले वर्षों में संसार की महान सत्ताओं में एक होने की आशा रख सकता है।" इसके विपरीत अगर इस देश के टुकड़े कर दिये गये तो हम अपना स्वाभाविक विकास भी नहीं कर पावेंगे।

सच तो यह है कि गांधीजी जिस अहिंसक राज की कल्पना कर रहे हैं, उसमें तो छोटी जातियों की समस्या ही खड़ी नहीं होगी; क्योंकि अहिंसा के मानी हैं सहिष्णुता और एक दूसरे के अधिकारों के प्रति आदर। उसमें तो भय, अविश्वास, अरक्षा का कोई कारण ही नहीं रहेगा। पाकिस्तान या टुकड़े-टुकड़े करने की मांग की कोई जरूरत नहीं रहेगी। वह अनावश्यक होगी।

पर चूंकि गांधीजी अहिंसा के माननेवाले हैं इसलिए अगर मुसलमान सचमुच अड़ जावेंगे कि पाकिस्तान हो ही तो, गांधीजी उसका प्रतिकार जोर-जबरदस्ती से न कर अहिंसात्मक-उपायों से करेंगे। उन्होंने कहा था, "भारत की चीर-फाड़ में मेरा स्वेच्छापूर्वक सहयोग तो हरगिज नहीं मिल सकेगा, बल्कि उसे रोकने में हर प्रकार के अहिंसक उपाय को काम में लूंगा। क्योंकि असंख्य हिन्दू और मुसलमान सदियों से जो एक साथ मिल कर रहने का यत्न करते रहे हैं उसको यह कदम मटियामेट कर देगा।"[2]

१ 'हरिजन' १३-४-१९४०

२ 'हरिजन' १३-४-१९४०

हिन्दुस्तान को एक या अधिक टुकड़ों में बांटने से व्यवहारतः राष्ट्रीय दृष्टि से उसकी आत्म-हत्या ही हो जायगी। इसलिए जहां गांधीजी किसी भी प्रदेश के बांटने या अलग होने के हक को मंजूर कर लेंगे, वहां उनकी अहिंसा उन्हें अपने राष्ट्र की चीर-फाड़ का प्रतिकार करने में अपनी सारी नैतिक और आध्यात्मिक ताकत लगा देने की, बल्कि इस प्रयत्न में अपने-आपको खत्म तक कर देने की, प्रेरणा करेगी।

यह खुशी की बात है कि अभी मुसलमानों में भी सद्भाव की कमी नहीं है। पर अंगरेज़ सरकार हमारे छोटे-से-छोटे भेदभाव को तिल का ताड़ बना कर आग में घी डालने पर तुली हुई है। अगर विदेशी शासक ईमानदारी से सत्ता सौंपने के लिए तैयार हो जावें तो यह साम्प्रदायिक मसला तो रातभर के अन्दर-अन्दर हल हो सकता है। अंगरेज़ भले ही अपनी जबान से कहते रहें कि हम हिन्दुस्तान के टुकड़े-टुकड़े नहीं करना चाहते। परन्तु मुझे भय है कि वे अन्त में पाकिस्तान से मिलता-जुलता कोई फैसला हमारे सर पर लादे बग़ैर नहीं रहेंगे। अतः उन्हें हमें अब साफ कह देना चाहिए कि वे अपनी फूट फैलाकर शासन करने की कुटिल नीति को छोड़ दें। पृथक निर्वाचन की बुराई उन्होंने शुरू की। अब न्याय और ईमानदारी के नाम पर उन्हें खुद ही अपनी नीति बदल देनी चाहिए। वे यह न समझ लें कि राजनीति में केवल वे ही होशियार हैं। अगर कहीं सालभर के लिए भी हिन्दुस्तान का ब्रिटेन पर शासन हो जाय तो इंग्लैंड, स्कॉटलैंड और वेल्स को बड़ी आसानी से पृथक-पृथक राष्ट्र सिद्ध किया जा सकता है और संसार को यह बताया जा सकता है कि वे अलग-अलग होने की पुकार कर रहे हैं, बल्कि उसके लिए लड़ भी रहे हैं।

अंतर्राष्ट्रीय प्रथाओं के अनुसार भारत के भावी विधान में नीचे लिखे मुद्दों पर जोर देकर अल्पसंख्यकों का प्रश्न भी हल किया जा सकता है—

(अ) मौलिक अधिकारों के अनुसार तमाम जातियों की संस्कृति, भाषा,

लिपि, शिक्षा और धर्म के आचरण और पालन तथा सामाजिक रीति-रिवाज और व्यक्तिगत नियमों की पूरी रक्षा की जायगी।

(आ) प्रत्येक प्रदेश को अपनी सीमा के अन्दर आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक विषयों में पूरी स्वतन्त्रता होगी। और जब हमारा ग्रामीण समाज स्वावलम्बी तथा स्वयं-शासित बन जायगा, तब वैधानिक दृष्टि से अल्पसंख्यकों की समस्या पूरी तरह हल हो चुकी होगी।

(इ) हमारे विधान का आधार सम्मिलित निर्वाचन पद्धति होगी। उसमें अल्पसंख्यक जातियों के लिए एक निश्चित संख्या में जगहें सुरक्षित रहेंगी और इसके अलावा भी अन्य जगहों के लिए खड़े रहने की स्वतन्त्रता उन्हें होगी। गांधीवादी विधान में अल्पसंख्यकों के लिए इस प्रकार जगहें सुरक्षित रखने की भी जरूरत नहीं रहेगी। संक्रमण-काल के लिए भले ही यह व्यवस्था अस्थायी तौर पर उसमें रक्खी जा सकती है।

(ई) मताधिकार तमाम बालिग स्त्री पुरुषों के लिए होगा। इसमें किसी प्रकार की कैद या भेदभाव नहीं रक्खा जायगा।

(उ) सरकारी नौकरी में उम्मीदवारों की नियुक्तियां निष्पक्ष कमीशनों द्वारा की जावेंगी। शासन के काम की उत्तमता का ध्यान रखते हुए उसमें सब जातियों को उचित अनुपात में स्थान मिलेगा।

अल्पसंख्यकों के अधिकारों और प्रतिनिधित्व की तफसीलें बनाने के लिए विधान निर्मात्री परिषद् अपनी एक कमिटी नियुक्त करदे। वह इन्हें बना लेगी। अगर आवश्यक मालूम हो तो अन्तिम निर्णय एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत बोर्ड पर छोड़ दिया जाय। पर ब्रिटेन या उसके उपनिवेशों में से कोई उस पंचायत का सदस्य न हो।

लेकिन जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, आप कागज़ पर चाहे कितना ही अच्छा विधान बना लीजिए, और उसमें अधिकारों की रक्षा का चाहे कितना ही निश्चय दिलाया गया हो, परंतु वास्तव में यदि दोनों पक्षों में आवश्यक मात्रा में सद्भाव न होगा तो यह सब कुछ भी काम देने वाला

नहीं है। जातियों के नेता और प्रतिनिधि-अगुआ इस सद्भाव को बढ़ाने के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं।

"अपनी वाणी और प्रत्यक्ष कार्यों द्वारा, संयत भाषा में मौलिक अधिकारों की उचित समय पर हिमायत करके, व्यवस्थित आचार द्वारा, प्रसंगोचित दृढ़ता द्वारा, अपने कार्य की न्याय्यता तथा युक्तिसंगतता बताकर, सर्व-सामान्य प्रवृत्तियों या हलचलों को तथा संगठनों को हर तरह का प्रोत्साहन देकर और फूट तथा अलगाव की भावना को कठोरता के साथ दबाकर भारत की अल्पसंख्यकों की समस्या को, जिस रूप में आज हम उसे देखते हैं, आज और हमेशा के लिए, सर्वत्र और सब तरह से सुलझाया जा सकता है।[1]

हमारे देश के हिन्दुओं और मुसलमानों के सामने सबसे बुनियादी समस्या तो है देश में फैली हुई भयंकर कंगाली। इस सर्वसामान्य आर्थिक कष्ट के मुकाबले में साम्प्रदायिक प्रश्न तो बिलकुल तुच्छ, नगण्य-सा हो जाता है। स्वराज्य के आते ही राष्ट्र की सरकार को सबसे पहिले जनता की रहन-सहन को ऊंचा उठाने के प्रश्न पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर देना होगा। तब अल्पसंख्यकों की समस्या सुबह के कुहरे की तरह बात-की-बात में अदृश्य हो जावेगी। गांधीजी कहते हैं—

"जातीय प्रश्न का हल हमारे स्वराज्य शासन के विधान की बुनियाद नहीं, कलश होगा। क्योंकि हमारे आपसी भेदभाव अगर विदेशी सत्ता के कारण पैदा नहीं हुए तो दृढ़ जरूर हुए हैं। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि जातीय भेदभाव का यह तैरता हुआ बरफ का पहाड़ स्वतन्त्रता के सूर्य की गरमी में पिघल कर नष्ट हो जायगा।"[2]

---

१ व्हिदर माइनारिटीज—एम्० एन० दलाल—पृ० १६३

२—"दि केस फार स्वराज्य"—पृ १०३

: १५ :

वैदेशिक नीति

पं० जवाहरलालजी नेहरू की व्यापक दृष्टि की बदौलत हिन्दुस्तान ने अंतर्राष्ट्रीय जगत में एक निश्चित और काफ़ी उदार वैदेशिक नीति का विकास कर लिया है। समस्त संसार में हमारी राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) शायद सबसे पहली राजनैतिक संस्था थी जिसने फासिस्ट शक्तियों की खुशामद करनेवाली नीति की, जिसकी परिणति म्यूनिच का शर्मनाक इकरारनामा था, निन्दा की थी। कांग्रेस ने चीन पर जापान के आक्रमण के खिलाफ भी अपनी आवाज़ उठाई थी। स्पेन के भीतरी विद्रोह और बाहरी आक्रमण के समय उसकी सरकार की बहादुराना लड़ाई में भी कांग्रेस ने साथ दिया था। गत महायुद्ध में भी कांग्रेस मित्र राष्ट्रों के पक्ष में अपनी पूरी ताक़त लगा देने को तैयार थी अगर उसे तुरन्त पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाती। और आज इण्डोनेशिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए हिन्दुस्तानी सिपाहियों का जो बुरी तरह उपयोग किया जा रहा है, हिन्दुस्तानी नेताओं ने इसकी कड़ी-से-कड़ी निंदा की है। इससे अपने पड़ोसियों के प्रति भी इस देश का रुख प्रकट है। फिर भी भारत के भावी विधान में उसकी वैदेशिक नीति को साफ-साफ शब्दों में प्रकट कर देना उचित होगा। इसके खास-खास मुद्दे ये होंगेः—

(अ) सम्पूर्ण समानता के आधार पर हिन्दुस्तान की जनता अपने पड़ोसियों और दुनिया के तमाम अन्य राष्ट्रों के साथ शांति और मित्रतापूर्वक रहना चाहती है।

हिन्दुस्तान अपने पड़ोसी राष्ट्रों के प्रदेशों पर बुरी नजर नहीं रखता। वह दूसरों की स्वतंत्रता का आदर करेगा और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव और मेल कायम करने की कोशिश करेगा।

(आ) व्यापार और व्यवसाय द्वारा हिन्दुस्तान दूसरे देशों का आर्थिक

शोषण नहीं करेगा, और न वह दूसरों को अपना शोषण करने देगा। पारस्परिक लाभ और समृद्धि के आधार पर ही वह दूसरे देशों के साथ व्यापारिक सम्बंध जोड़ेगा।

(इ) हिन्दुस्तान का विश्वास है कि स्वतंत्र राष्ट्रों का संसारव्यापी संघ स्थापित होने पर ही भविष्य में शांति और व्यवस्थित प्रगति की आशा हो सकती है। ऐसे जागतिक संघ की स्थापना होने पर ही संसार में तमाम देशों का निःशस्त्रीकरण हो सकेगा। राष्ट्रों की खानगी सेनाएं, नौसेना दल और हवाई सेना की तब जरूरत न होगी। तब संसार की संरक्षक सेना आक्रमणों को रोकेगी और संसार में शांति की रक्षा करेगी। स्वतंत्र भारत ऐसे जागतिक संघ में प्रसन्नता पूर्वक शरीक होगा, और समानता के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग देगा। (८ अगस्त १९४२ के प्रस्ताव का अंश)

(ई) शांति, स्वतंत्रता और जनतंत्र की स्थापना के लिए यत्नशील संसार की तमाम राष्ट्रीय, जनतंत्री और समाजवादी शक्तियों को हिन्दुस्तान का पूर्ण समर्थन प्राप्त होगा और आक्रमण-कर्त्ता के खिलाफ बनाई गई हर अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक योजना में शरीक होने के लिए वह हमेशा तैयार रहेगा।

(उ) सामुहिक सुरक्षा के साधनों के संगठन और संचालन में यद्यपि भारत सहयोग देने के लिए हमेशा तैयार रहेगा, तथापि किसी भी राष्ट्र की स्वतंत्रता के अपहरण या दबाने में किसीको भी उसका सहयोग कभी प्राप्त नहीं हो सकेगा।

(ऊ) जाति, वर्ण, या आर्थिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन आदि के किसी भी प्रकार के भेदभाव का खयाल न करते हुए हिन्दुस्तान तमाम छोटे-बड़े राष्ट्रों की पूर्ण स्वतन्त्रता का हिमायती है। किसी भी हालत में एक देश को किसी दूसरे देश पर राज करने का अधिकार नहीं।

: १६ :

अर्थ और कर

हिन्दुस्तान की वर्तमान अर्थ और कर पद्धति अत्यन्त अन्याय-युक्त और बेहूदा है। इसलिए उसे एकदम बदल कर उसकी नये सिरे से रचना करनी होगी। भारत के भावी विधान में नीचे लिखे महत्वपूर्ण मुद्दों का समावेश होना चाहिए।

(अ) राष्ट्रीय आमद-खर्च में उचित प्रकार से विकेन्द्रीकरण कर दिया जाय, जिससे प्रत्येक स्थान सच्चे अर्थों में स्वशासित बन जाए। गांवों में एकत्रित जमीन के लगान का कम-से-कम आधा हिस्सा ग्राम-पंचायतों को दे दिया जाय।

(इ) गांवों के दूसरे जरूरी खर्चों का प्रबन्ध ग्राम-पंचायतें फसली चन्दा व्यक्तिगत दान, पंचायत शुल्क, जुर्माने और चराई आदि के रूपों में कर इकट्ठा करके करेंगी। ग्रामीणों द्वारा नकद के रूप में कर लेने के बजाय श्रम के रूप में कर लेने की पद्धति को प्रोत्साहन दिया जायगा।

(आ) जमीन के लगान के शेष आधे हिस्से का बंटवारा जिला, प्रांत और अखिल-भारत-पंचायत के बीच किस प्रकार हो, इसका निर्णय विधान निर्मात्री समिति द्वारा नियुक्त साधिकार कमीशन करेगा।

(ई) सरकारी नौकरियों और फौजों में ऊपर के अधिकारियों को अत्यधिक वेतन देने की पद्धति लगभग निर्मूल करदी जायगी। विदेश से लाये गये विशेषज्ञ इसके अपवाद होंगे। किसी भी सरकारी नौकर को मासिक ५००) से अधिक वेतन नहीं दिया जायगा।

(उ) स्वास्थ्य, शिक्षा और संशोधन जैसे सार्वजनिक उपयोग के महकमों पर अपेक्षाकृत अधिक अनुपात में खर्च किया जायगा।

(ऊ) सरकार द्वारा देश में या बाहर लिये गये गैर-वाजिब सार्वजनिक कर्ज का देनदार स्वतन्त्र भारत नहीं होगा।

(ए) एक निश्चित रक़म से ऊपर मिलने वाली खेती की आय पर श्रेणीबद्ध कर लगा दिया जायगा।

(ऐ) एक निश्चित रक़म से ऊपर की जायदाद की विरासत पर एक क्रम-बद्ध कर लगा दिया जायगा।

(ओ) आयकर प्रांतीय आमद का साधन होगा।

(औ) नमक पर कोई कर नहीं होगा। वह हवा के जैसा सुलभ होगा।

(अं) चूंकि स्वतन्त्र भारत में शराब और मादक द्रव्यों की पूरी बंदिश होगी, इसलिए मादक द्रव्यों के कर से कोई आबकारी आमद नहीं होगी।

(अः) नक़द के बजाय उपज के रूप में, खास तौर पर देहातों में कर लेना अधिक पसन्द किया जायगा।

प्रांतीय और अखिल-भारत-पंचायत के आमद का मुख्य साधन सार्वजनिक उपयोग के साधनों और मुख्य उद्योगों के संचालन से होने वाला मुनाफा होगा।

: १७ :

राष्ट्रीय समृद्धि

स्वराज्य शासन-विधान में खानगी जायदाद को उसके महज़ ख़ानगी होने की वजह से ही मिटाया नहीं जायगा। समाज की वर्तमान लोभजन्य बुराइयों से बचने के लिए इसके क्षेत्र को सीमित और मर्यादित ज़रूर बना दिया जायगा। आज नीचे लिखे प्रकार की सम्पत्ति पर ख़ानगी पूंजीपतियों का स्वामित्व है। स्वतन्त्र भारत में वह राष्ट्र की सम्पत्ति बन जायगी:—

(अ) तमाम ज़मीन पर राष्ट्र का स्वामित्व होगा। ज़मींदारी पद्धति और ज़मीन पर ख़ानगी मिल्कियत की पद्धति का अन्त होगा। खुद खेती

करने वाले किसानों को सरकार की तरफ़ से लम्बी मियाद पर काश्त के लिए ज़मीनें किराये पर दी जायंगी।

(आ) तमाम मुख्य-मुख्य उद्योगों पर राष्ट्र का स्वामित्व होगा। खानगी उद्योगपतियों को उनको संचालन का काम कमीशन के आधार पर दिया जा सकता है; पर वे बुनियादी उद्योगों के स्वामी नहीं हो सकेंगे और राष्ट्रीय साधन-सामग्री से मुनाफ़ा नहीं कमा सकेंगे।

(इ) खानें, नदियां, जंगलात, सड़कें, रेलें, हवाई जहाज़, डाक और तार, समुद्री जहाज़ और यातायात के अन्य साधन राष्ट्र की सम्पत्ति होंगे।

(ई) उपर्युक्त जायदादों में से जो खानगी व्यक्तियों के हाथों में होंगी उनको राष्ट्रीय सरकार अपने हाथों में ले लेगी। जहां आवश्यक होगा, अधिकार की उचित जाँच करने पर, पहले के स्वामियों को इनका उचित मुआवज़ा भी दे दिया जायगा।

: १८ :

शिक्षा

हिन्दुस्तान की वर्तमान शिक्षा-पद्धति हमारे राष्ट्रीय जीवन की सबसे बड़ी ज़रूरत को पूरा करने में नाकामयाब रही है। हमारे समाज के जीवन और आर्थिक स्थिति से उसका कोई सम्पर्क तक नहीं, और न वह हमारे सामने कोई सृजनात्मक और प्रेरक आदर्श उपस्थित करती है इसलिए हमें स्वराज्य-विधान में शिक्षा-पद्धति में भी दूरगामी सुधार करने होंगे। नीचे लिखे मुद्दे उनमें से खास-खास होंगेः—

(अ) बुनियादी शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य होगी। वह १४ वर्ष की उम्र तक के तमाम लड़कों और लड़कियों को दी जावेगी। शिक्षा का आधार कताई, बुनाई या खेती जैसी कोई उत्पादक कारीगरी होगी। हिन्दुस्तान जैसे ग़रीब देश में ऐसी शिक्षा से तीन प्रकार के लाभ होंगे—

(१) छोटे बच्चों को वह अच्छी तालीम और विद्यार्थियों को ठोस ज्ञान देगी।

(२) शिक्षा का अधिकांश या आंशिक खर्च उसमें से निकल सकेगा।

(३) विद्यार्थियों को साधारणतया वह किसी पेशे के लिए तैयार कर देगा।

(आ) विद्यालयों में किसी प्रकार की शारीरिक सज़ा नहीं दी जायगी।

(इ) पढ़ाई की तमाम श्रेणियों में शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषा होगी। शिक्षा का माध्यम अंगरेजी भाषा का होना हमारे देश में शिक्षण-विषयक एक अत्यन्त दुखदायी बात रही है। "उसने राष्ट्र की शक्ति का अपरिमित नाश किया है, विद्यार्थियों की उम्र घटा दी है और जनता से उन्हें बिछुड़ा दिया है। पढ़ाई को उसने अनावश्यक रूप से अत्यन्त मंहगी बना दिया है। अगर यही पद्धति जारी रही तो वह राष्ट्र की आत्मा का भी अपहरण कर देगी।"[1]

(ई) ग्राम-पंचायतें जितना जल्दी संभव होगा निरक्षरता को भगावेंगी। परन्तु प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए वे केवल पढ़ने-लिखने पर ही आधार नहीं रक्खेंगी स्वास्थ्य, शरीर की सफ़ाई, घर और गांव की सफ़ाई, अच्छी खेती, सहकारिता, और नागरिक अधिकारों वग़ैरा सम्बन्धी सामान्य ज्ञान उन्हें ज़बानी बातचीत और भाषणों द्वारा दे दिया जाया करेगा। यहां भी आधार तो कोई दस्तकारी ही होगी।

(उ) विश्व विद्यालयों में ख़ास तौर पर औद्योगिक शिक्षा और संशोधन का काम होगा।

(ऊ) हर स्नातक को एक साल अवैतनिक समाज-सेवा का काम करने पर ही पदवी दी जावेगी।

१ यंग इण्डिया—५-७-१९२७

: १६ :

अपराध और सज़ा

पुराने ज़माने में अपराधियों को या तो बहुत ही सख्त सज़ायें दी जाया करती थीं या उनके साथ बेहद भावुकता दिखाई जाती। संसार के प्रगतिशील देशों में अपराध-विज्ञान में बड़ी तरक्की हुई है। अब अपराध एक स्वाभाविक वस्तु नहीं रह गया है। यह सिद्ध होगया है कि दोष पूर्ण समाज रचना का यह परिणाम है। इसलिए जिस प्रकार अन्य शारीरिक या मानसिक रोग के रोगियों की चिकित्सा होती है, उसी प्रकार इनकी भी चिकित्सा होनी चाहिए। इसलिए गांधीजी अपराध को बुरा मानते हैं, पर अपराधी को नहीं। अपराधों का ध्यानपूर्वक वर्गीकरण करने पर ज्ञात होगा कि उनका मुख्य कारण गरीबी, दरिद्रता, बेकारी, अपर्याप्त शिक्षा और निराशामय दुखी गृह-जीवन है। इसलिए अगर अपराधों को संख्या घटाना है तो समाज का सारा वातावरण और परिस्थिति में आमूल सुधार करने की ज़रूरत होगी।

बीमारी हो, और फिर उसका इलाज करें; इसकी अपेक्षा उत्तम तो यही है कि वह दूर ही रहे। गांधीवादी विधान में जिस सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की आशा है, उससे देश में अपराधों की संख्या घट जावेगी।

पर यह मान लेगा भूल होगी कि स्वराज्य शासन में तमाम प्रकार के अपराधों का अपने आप अन्त हो जावेगा। स्वतन्त्र भारत में भी अपराध तो होंगे, सज़ायें भी दी जावेंगी और जेलें भी रखनी ही होंगी। पर वे आज की जेलों से एकदम भिन्न प्रकार की होंगी। आज की जेलों में तो गुनहगार सुधरने के बजाय अधिक निर्लज्ज, बदमाश बनकर निकलते हैं, जिनके सुधार की सम्भावना बहुत कम रह जाती है। नये शासन-विधान में जेलें एक प्रकार के सुव्यवस्थित सुधार-घर होंगी। इस सम्बन्ध में यह

जानना लाभदायक होगा कि सोवियट रूस के सुधार-गृह कैसे होते हैं। बोल्शेवो के सुधार-गृह का हाल जरा सुनिये—

"मास्को से थोड़ी ही दूरी पर बोल्शेवो पर कैदियों का एक सुधार घर है। खुद जी. पी. यू. की देख-भाल में वह चलाया जा रहा है। वह आज जैसा है, तथा जिस तेजी से वह तरक्की कर रहा है उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में वह एक सबसे उत्तम सुधार-घर बन जायगा। वह एक लम्बी-चौड़ी बस्ती है, जिसमें कोई एक हजार मनुष्य रहते हैं। किसी करोड़पति की सुन्दर जमीन पर, जिसकी सम्पत्ति छीन ली गई है, वह बसाया गया है। वहां खेती भी है और कारखाना भी है। निवासियों की आजादी पर रोक लगाने के लिए वहां न तो दीवारें हैं और न दरवाजों पर ताले वगैरा लगाये जाते हैं। निवासी जब और जहाँ चाहें आ-जा सकते हैं। राष्ट्र के अनेक प्रजातन्त्रों की अदालतों से जिन्हें छोटी-मोटी चोरी, नेकचलनी, हिंसात्मक डाका वगैरा के अपराध में दो या अधिक बार सजा मिल चुकी हो, ऐसे व्यक्तियों में से कुछ को सुधार के लिए चुन लिया जाता है, और उन्हें केवल मजदूरी के काम पर लगा दिया जाता है। उन्हें जो मजदूरी मिलती है, उसे वे जिस तरह चाहें बस्ती में दूकानों पर अपने मन की चीजें खरीद कर खर्च कर सकते हैं। वे सिगार पी सकते हैं, बातचीत कर सकते हैं; संगीत सुन सकते हैं या थियेटर भी जा सकते हैं; या अन्य किसी भी प्रकार से अपनी फुरसत के समय का उपयोग कर सकते हैं। वास्तव में उन्हें यह बताया जाता है कि गुनहगार या भिखमंगे की अपेक्षा नियमित रूप से काम करते हुए नियमित मनोरंजन और पूर्ण मात्रा में व्यावहारिक आजादी का जीवन कहीं अधिक अच्छा और ऊँचा होता है। कुछ समय के बाद वे अपनी स्त्री को भी वहां रहने के लिए ला सकते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे एक परिवार वहां अपना घर बसा कर रहने लग जाता है। अनेकों को इस बस्ती और यहाँ के जीवन से इतना प्रेम हो जाता है कि इसे छोड़कर कहीं भी जाना वे पसन्द नहीं करते। अनेकों

को यहीं मन-चाही औरतें या औरतों को मर्द भी मिल जाते हैं, और इस तरह यह बस्ती क्रमशः बढ़ती जाती है। आज वहां ३००० सजायाफ्ता और स्वतन्त्र आदमी रहते हैं। पर ऐसी अकेली बोल्शेवो की बस्ती ही नहीं। लगभग दस ऐसी और बस्तियां सोवियट रूस में हैं।'[1]

स्वतन्त्र भारत में गंभीर से गंभीर अपराध पर भी फांसी की सजा नहीं होगी।

दुर्बुद्ध बच्चों के लिए राष्ट्र खास तौर के सुधार-गृहों का संचालन करेगा, जिससे अपराधों का जड़ से इलाज हो जाय।

फौजदारी कानून को बहुत छोटा और सरल बना दिया जावेगा; कानून जितने पेचीदा होते हैं अपराध और अपराधों की मनोवृत्ति उतनी ही बढ़ती है।

: २० :

सरकारी नौकरियां

(अ) प्रान्तीय या अखिल भारतीय महकमों में जो लोग काम कर रहे हैं, स्वतन्त्र भारत उनमें से जिनको चाहेगा रक्खेगा। जिनको चाहेगा अलग कर देगा।

(आ) जिनको नौकरी से अलग किया जावेगा, स्वतन्त्र भारत उन्हें वाजिब पेन्शन या निर्वाह खर्च दे सकता है।

(इ) जिनको वह नौकरी में कायम रक्खेगा उनकी पेन्शन या सेवा-निवृत्ति के लिए पहली वास्तविक सेवाओं का ध्यान रक्खा जायगा।

(ई) ग्राम, तहसील, तथा जिलों के लिए कर्मचारी क्रमशः ग्राम, तहसील एवं जिला पंचायतों द्वारा बाला-बाला निश्चित नियमों के अनुसार नियुक्त किये जावेंगे।

१ सोवियट कम्यूनिज्म—ए न्यू सिविलिजेशन—सिडने एण्ड बीट्रिस वेब—जिल्द दूसरी, पृ० ५८७-८८

(उ) प्रान्तीय और अखिल भारतीय महकमों के लिए कर्मचारियों की भर्ती इन पंचायतों द्वारा नियुक्त पब्लिक सर्विस कमीशन करेंगे। इन कमीशनों के सदस्य अत्यंत असाधारण योग्यता तथा चरित्रशील होंगे। उनका कार्य तीन वर्ष का होगा।

(ऊ) कर्मचारियों की नियुक्ति, तरक्की, अनुशासन, सेवा निवृत्ति; और पेन्शन वगैरा के नियम पब्लिक सर्विस कमीशन ही बनावेंगे।

(ए) सरकारी नौकरियों में योग्यता, कार्यशक्ति, चरित्र, और राष्ट्र-सेवा की भावना का ध्यान रखकर ही भरती की जायगी। अल्पसंख्यक और पिछड़ी हुई जातियों के साथ पूर्ण न्याय हो इस बात का खास तौर पर ध्यान रक्खा जायगा। परन्तु स्वतन्त्र भारत के विधान को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की कैदों से दूषित नहीं किया जायगा।

(ऐ) रिश्वत, अनैतिकता और धोखा, बेईमानी, व्यक्तिगत और साम्प्रदायिकपक्षपात के दोषी नौकरों के साथ किसी प्रकार भी रियायत नहीं की जायगी। सार्वजनिक नैतिकता को कायम रखने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है।

(ओ) कर्मचारियों को दफ्तर के काम को जमाने, शासन-संचालन तथा सार्वजनिक व्यवहार के नियमों की शिक्षा देने के लिए खास तौर पर ट्रेनिंग देनेवाली संस्थाएं खोली जावेंगी।

(औ) सरकारी नौकरी के लिए उम्मीदवारों का चुनाव करते समय उन नौजवानों को पहले मौका दिया जायगा, जिन्होंने हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई में भाग लिया होगा।

: २१ :

विविध

झण्डा

तिरंगा झण्डा, जिसके बीच में चरखा हो, स्वतन्त्र भारत का सरकारी झण्डा होगा।

नाम वगैरा

विधान निर्मात्री सभा द्वारा नियुक्त खास समिति द्वारा स्वतन्त्र भारत के शासन-विधान में नाम हिन्दुस्तानी में रखे जायेंगे।

विधान में संशोधन

विधान को धाराओं वगैरा में रद्दोबदल करने का अधिकार अखिल भारत पंचायत को होगा। ये रद्दोबदल अखिल भारत पंचायत तथा प्रांतीय पंचायतों में पचहत्तर प्रतिशत बहुमति से मंजूर होंगे। अगर ये रद्दोबदल किसी खास प्रांत के सम्बन्ध में होंगे तो केवल उसी प्रांत की मंजूरी के लिए भेजे जावेंगे।

विधान की मौलिक अधिकार वाली धारायें सर्वोपारि न्यायालय की मंजूरी से ही संशोधन हो सकेंगी।

: २२ :

उपसंहार

पिछले अध्यायों में वर्णित विधान को ऊपर-ऊपर से पढ़ने पर पाठकों को शायद यह प्रतीत हो कि यह भारत के वर्तमान भारी भरकम वेतन वाले अफसरों से भरे शासन-यन्त्र से बहुत भिन्न नहीं है। परन्तु जिन्होंने इसे ध्यान से पढ़ा है, वे देखेंगे कि विधान के सारे रुख और स्पष्ट परिवर्तन हैं। इसमें ऐसी शासन-पद्धति की रूप-रेखा पेश की गई है, जिसका सबसे नीचे का हिस्सा खूब लम्बा-चौड़ा और फैला हुआ है।

यह आधार हमारी असंख्य ग्राम-पंचायतें हैं। ऊपर की पंचायतें ठीक-ठीक सलाह देने, विशेषज्ञों का मार्ग-दर्शन और जानकारी देने का काम करेंगी और समस्त ग्राम-पंचायतों की प्रवृत्तियों का समन्वय करती रहेंगी, जिससे पंचायतों की शासन, और सेवा-शक्ति बढ़े और अधिक अच्छी हो। परन्तु गांधीजी के कल्पना-गत स्वराज्य में नीचे के आधार-भूत संगठन राष्ट्र की नीति का निर्धारण करेंगे, न कि ऊपर के संगठन। सच तो यह है कि सारा ढांचा उलट दिया जायगा। सारे शासन का संचालन ग्रामों के हाथों में चला जायगा।

इसके जवाब में यह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान के गांव तो आज बहुत बुरी हालत में हैं। ग्रामवासियों में तुच्छ ईर्ष्या द्वेष हैं, झगड़े हैं, दलबन्दियां हैं। वे अपढ़ हैं। उनमें नागरिकता के भावों की जागृति अभी नहीं आई है। इसलिए उनमें बहुत अधिक विश्वास करके ग्राम-पंचायतों के हाथों में बहुत अधिक अधिकार देने में बहुत बड़ा खतरा है। परन्तु यह दलील गलत है। असल में विश्वास करने से विश्वास बढ़ता है। मानव स्वभाव का यह एक जबरदस्त सिद्धांत है और इसे उपयुक्त दलील में भुलाया जा रहा है। अंगरेज लोग हमें आज तक यही कहते हैं कि हिन्दुस्तानी स्वराज्य संचालन की योग्यता नहीं रखते और हमने भी उन्हें हमेशा कहा है सुशासन स्वशासन की बराबरी नहीं कर सकता; क्या हर्ज है अगर हम गलतियां—बहुत बड़ी भूलें भी कर जावें। गलतियां करते करते ही तो हम सीख सकते हैं। इसलिए ग्राम-पंचायतों के हाथों में बहुत बड़े हिस्से में राजनैतिक सत्ता देने से हमें डरना नहीं चाहिए। हां, यह हम भले ही धीरे-धीरे करें। पर हमारा उद्देश्य साफ साफ रूप से यही हो। इसमें किसी प्रकार का भ्रम न रहे। मुझे तो इसमें तिल-मात्र भी सन्देह नहीं कि इस स्वदेशी विधान के मातहत हमारे गांव अपना पूरा विश्वास कर सकेंगे और एकबार फिर सच्ची और चिर स्थायी जन-सत्ता पद्धति के जगमगाते नमूने बन जावेंगे।

लेखक की अन्य रचनायें—

गद्य

१ रोटी का राग
(प्रस्तावना : महात्मा गांधी व श्री मैथिलीशरण गुप्त)

२ मानव (प्रस्तावना : आचार्य काका कालेलकर)

पद्य

१ सेगांव का संत—

२ जुगनू (लघु लेखों का संग्रह)

३ गांधीवादी आर्थिक योजना (प्रस्तावना : म० गांधी)

४ छात्र और रचनात्मक कार्य

(लेखक से प्राप्य)